

प्रकाशक :

कल्याणि आर्यभट्ट

कोरूा बरी,

आमरा



पुस्तक जीवन दायका



२ अक्टूबर १९९१



पुस्तक

आकाशवाणी विभाग

दिल्ली ६

दिल्ली ६

प्रकाशकीय निवेदन

- अहिंसा तत्त्व-दर्शन, हमारे पूर्व-प्रकाशन, अहिंसा दर्शन का ही सशोधित, परिवर्धित सक्षिप्त संस्करण है। लेकिन इस संस्करण का इतना काम-कल्प हो गया है कि पुस्तक करीब करीब नवीन ही बन गई। इसलिए इस पुस्तक का नाम अहिंसा-दर्शन के स्थान पर अहिंसा तत्त्व-दर्शन कर दिया गया है।
- इस पुस्तक का सम्पादन हमारे साहित्यिक साथी श्री सतीशकुमार जी ने जिस परिश्रम के साथ किया है, वह विशेष रूप से स्मरणीय है। सम्पादन होने के बाद उपाध्याय श्री जी ने पूरी पुस्तक का स्वयं पारायण करके उसका सशोधन भी कर दिया है।
- इस पुस्तक का प्रकाशन, सम्पूर्ण अहिंसा-साहित्य में और विशेष रूप से जैन साहित्य में अपना ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। अहिंसा का इस तरह का शास्त्रीय, वैज्ञानिक और तर्कपूर्ण विश्लेषण अब तक जैन-साहित्य में तो उपलब्ध था ही नहीं, अन्य हिन्दी-साहित्य में भी दुर्लभ ही था। इसलिए हम अपने पाठकों को यह पुस्तक भेंट करते हुए विशिष्ट प्रसन्नता का अनुभव कर रहे हैं। इस पुस्तक के मुद्रण का कार्य कुछ शीघ्रता में हुआ है इसलिए यदि कोई त्रुटि पाठकों के ध्यान में आये, तो वे हमें क्षमा करें और उस तरफ हमारा ध्यान आकृष्ट करें।

मन्त्री

सन्मति ज्ञानपीठ

लोहामण्डी, आमरा

(उत्तर प्रदेश)

२ अक्टूबर, १९६१

सम्पादकीय निवेदन



उपाध्याय अमरमुनि की यह पुस्तक अहिंसावाधियों और शान्तिवादियों के अध्ययन के लिए विशेष महत्त्व रखती है क्योंकि आज दुनिया में अहिंसावादी कार्यकर्ताओं के लिए इस तरह के साहित्य की बहुत कमी है। सासरीर से हिन्दी में तो करीब-करीब नहीं के समान है। जो साहित्य उपलब्ध है वह भी इतना बुरा और दुर्बल है कि सामान्य कार्यकर्ताओं को संचरण जीवन की बातें समझने के लिए उन पुस्तकों से कुछ लाभ नहीं मिलता। काफी महत्त्व चिन्तन और काम कर लेने के बाद भी वे पुस्तकें आम कार्यकर्ताओं के लिए, लाभदायी साबित नहीं होती हैं। परन्तु यह पुस्तक बहुत ही सरल भाषा में और बहुत ही सरल ढंग से अहिंसा-तत्त्व को समझाने के लिए तैयार की गई है। क्योंकि अमरमुनि एक जैन मुनि हैं और जैन दर्शन का उन्होंने महत्त्व से अनुशीलन किया है। इसलिये पुस्तक में जहाँ-तहाँ जैन सिद्धान्तों की अपर रिखाई पड़ती है। परन्तु मुझे इसमें सन्देह नहीं है कि जैन-विचारकों के लिए भी इस पुस्तक में बर्णित सामग्री है और मुख्यतः आज के जीवन में जो 'सर्वज्ञ' पैदा होते हैं उनके समाधान के लिए यह पुस्तक एक सही मार्गदर्शक का नाम है।

जी अमरमुनि एक अध्ययनशील और मनवशोक विद्वान् हैं। न केवल इतना ही बल्कि उनका सारा जीवन अहिंसा की प्रत्यक्ष और क्रियात्मक साधना में लगा हुआ है। इसलिये वे अहिंसा और उससे सम्बन्धित सभी प्रश्नों पर अपने मौलिक विचार रखते हैं और उन विचारों के आधार पर वे जीवन की विभिन्न प्रक्रियाओं के जीवित्व का निर्णय करते हैं। क्योंकि अधिकांश विचारक केवल विचारक ही होते हैं। उनके जीवन

की साधना उस तरह की नहीं होती । किन्तु जैसे महात्मा गांधी जी, सन्त बिनोबाजी आदि कुछ महात्मा अपने जीवन को अहिंसा के आचरण के लिए खपाते हैं, उसी तरह श्री अमरमुनि ने भी अपने जीवन की साधना को अहिंसा के आधार पर विकसित की है ।

आज सारे ससार में हिंसा और अहिंसा के प्रश्न बहुत महत्व रखते हैं । ओर शान्ति तथा समाज-निर्माण के लिए अहिंसा की आवश्यकता को प्रायः सभी विचारक और नेता एक स्वर से स्वीकार करते हैं । इसलिए अहिंसा के सम्बन्ध में किसी इस तरह की पुस्तक का सम्पादन-कार्य करने में मुझे दिलचस्पी हो, यह सहज ही है । इसलिए और भी अधिक दिलचस्पी होती है, क्योंकि मैं सर्वोदय-समाज का एक नम्र कार्यकर्ता हूँ और अपने जीवन को अहिंसा के आचरण तथा प्रचार के लिए अर्पित करना चाहता हूँ । यदि मेरे जीवन में अहिंसा के आचरण की दृष्टि में थोड़ा-बहुत भी मैं सफल हो सका और इस तरह की पुस्तक के सम्पादन, लेखन एवं प्रकाशन के काम में थोड़ा भी हिस्सा बटा सका, तो यह मेरा ही सभदाग्य होगा । क्योंकि यदि जीवन का उद्देश्य अहिंसा की साधना है, तो उसके लिए सारे साधन भी अहिंसा-मूलक ही हों, यह अनिवार्य है । अतः हमें यह निरन्तर याद रखना है कि जीवन में अहिंसा को साधने के लिए सारी परिस्थिति को अनुकूल बनाना होगा । इस पुस्तक के सम्पादन में मेरी इस भावना ने मुझे निरन्तर प्रेरणा दी है और मैं इस काम को पूरा कर सका हूँ, इसके लिए मेरा हृदय आनन्द विभोर हो रहा है ।

१ महिला एक बीरव-वीरा	१
२ महिला की बहीरी	१
३ हिना के दो प्रकार	२१
४ बरह-बाबला	२६
५ महिला के दो रूप	३१
६ महिला का बालबंद	३१
७ महिला की रीढ़	५१
८ प्रवृत्ति और निवृत्ति	६२
९ क्या महिला स्वायत्ताधिकारी नहीं है ?	७०
१ बर्त-व्यवस्था का मुक कथ	७६
११ नातिमार का कृत	८१
१२ बालकता का जीवन कथक	८९
१३ बालिका का मुक और	९६
१४ जीवन की हिना है	१ ६
१५ रोटी का कथाक	११५
१६ बाल का मूल्य	१२८
१ महिला की बचतबलि	१३४
१८ बार्ब कर्ब और बमार्ब कर्ब	१४७
१ इति अल्लारब है	१५७
२ महिला और इति	१६७
१ बालाहार का मूल्य	१७४
महिला बडीत और बर्तमान	१७९

अहिंसा तत्त्व-दर्शन

उपाध्याय अमरमुनि

जीवन दर्शन के मोती

सामान्य तर्कों और नीतियों का, कर्तों की
अपार सेवा है। वे क्लेशों के समक्ष
भीत के साथ भी खिन्ना रहते हैं।

॥ जीना वाली नीति करना नहीं, बल्कि
ईश्वर की स्तुति करना, अर्थात् मानव
जाति की सच्ची सेवा करना है।

जो जीवन का जीवन कोटकर जीता है
वही जीवित रहता है।

विश्व जगत् में लाखों परमात्माओं की
सहायता की है वह सेवा तुम्हें जीव
देना।

मानव-वृद्धि की सही नीति यह है कि
हम अपनी वृद्धि को समूह करें।

कर्तव्यों के बर्तन बर्तन के सामान्य ज्ञान
है किना बहुत नहीं है।

जीवन का उपयोग समाज के लिए ही
करना चाहिए।

—सद्गुरुजी

अहिंसा : एक जीवन-गंगा

मानव जाति के इतिहास में जितना वणन अहिंसा के सबंध में मिलता है, उतना अन्य किसी भी विषय में नहीं मिलता। क्योंकि मानवीय करुणा और मानवीय चेतना का मूल आधार अहिंसा ही है। अहिंसा मानव जाति के ऊर्ध्वमुखी विराट् चिन्तन का सर्वोत्तम विकास बिंदु है। क्या लौकिक और क्या लोकोत्तर, दोनों ही प्रकार के मंगल जीवन का मूल आधार अहिंसा है। यदि यह आधार टूट जाय तो जीवन खण्डित हो जायगा और मानवता मूर्छित हो जायेगी। व्यक्ति से परिवार, परिवार से समाज, समाज से राष्ट्र और राष्ट्र से विश्ववधुत्व का जो विकास हुआ या हो रहा है उसके मूल में अहिंसा की ही भावना है। क्योंकि जीवन के चिरंतन सत्य को जोड़ने वाली कड़ी अहिंसा ही बन सकती है। मानव सभ्यता के सांस्कृतिक वातावरण में यदि हम किसी ऐसी चीज को रखना चाहते हों जो सरस हो, मधुमय हो, सुरम्य हो तो वह अहिंसा ही है।

हिंसा, अधिकार-लिप्सा, असहिष्णुता, सत्ता-लोलुपता और स्वार्थाधिता से विपाकृत संसार में अहिंसा ही सर्वश्रेष्ठ विश्राम भूमि है, जहाँ पहुँचकर मनुष्य अमृतमय कलश को पा लेता है। अपनी को और दूसरों को समान घरातल पर रखने के लिए अहिंसा की निर्मल आँखों से देखना होगा। यदि अहिंसा नहीं हो तो मनुष्य न स्वयं अपने को पहिचाने और न दूसरों को ही।

अहिंसा धर्म का मूल है !

०

यही कारण है कि विश्व के सभी धर्मों में एक स्वर है अहिंसा के शोर को स्वीकार किया है। मनुष्य के चारों ओर बिना शक्तिशाली का चेहरे रहा हुआ है और यह चेहरे बिना मनुष्य के साथ बाधों की सर्वश्रेष्ठ शक्ति को अवरुद्ध कर रहा है। उन्हें छोड़ने का हल्का साधनात्मिक साधन अहिंसा ही सब बचती है। मैं ऐसा नहीं हूँ जो अपने अनु के विचारों के लिए और सब कुछ के लिए अपने हिन्दु अहिंसा की ओर है। कबला प्रति ईसा ने कहा है कि यदि तुम शांति के लिए एक मंदिर में जा रहे हो और सब समय तुम्हें सब का सब कि मेरी बहुत शक्ति के अवरुद्ध या अवरुद्ध है, तो तुम्हें लौट जाओ क्योंकि यदि अपने सब विरोधी में अपना सामना करने बिना शांति करने का तुम्हें कोई अधिकार नहीं है।

बहुधा यही है मैंने और कहा कि यदि कोई दुःख तुम्हारे एक वाक्य पर उठाया जाए तो तुम बहुत वाक्य की उनके सामने कर दो।

अब सभी की ही तरह, बालक सभी भी यही अपना धर्म धर्म में अहिंसा की स्थापना किया है। सभी छोटी-से-छोटी और बड़ी-से-बड़ी शक्ति सामना में अहिंसा का एक ऐसा मनुष्य संश्लेष बहता रहा है जो मनुष्य की आत्म-विभोर कर रहा है। आज आज बनता है धर्म धर्म का बीजा-ला धर्म यही बचता जाता है कि यह अहिंसा-समाध धर्म है। क्योंकि धर्म धर्म में जीवन की धर्म शक्ति की ओर के धर्म के हिन्दु विश्व सभी का विरोध किया है। धर्म में अहिंसा का स्थापन सब-से-अहिंसा है। यही वह वाक्य ही वा मूल

चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, चाहे वह युवक हो या बूढ़ा, सब के लिए सामान रूप से अहिंसा के पालन का प्रतिपादन किया गया है। जीवन की उत्कृष्ट साधना अहिंसा की साधना ही मानी गयी है। यदि अहिंसा की साधना में व्यक्ति सफल हो जाता है तो वह दूसरी सभी साधनाओं में आसानी से सफल हो सकता है।

अहिंसा का आधार



यदि अहिंसा है तो सत्य भी टिकेगा, अचीर्य भी टिकेगा, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह की भावना भी टिकेगी। जीवन के जितने भी ऊँचे आदर्श हैं उन सब की प्राप्ति का साधन अहिंसा ही है। जैसे जमीन के आधार पर ही यह विशाल महल, गाँव, नगर यानी सारी दुनिया टिकी हुई है, उसी तरह आध्यात्मिक साधना की आधार-भूमि अहिंसा है। यदि अहिंसा का आधार न मिले तो अध्यात्मवाद का यह भव्य महल एक ऐसा ताश का महल साबित होगा, जो किसी हलके से धक्के के कारण गिर जाता है। इसलिए यदि मैं यह मानकर चलूँ कि इस विश्व की संपूर्ण परंपराओं का आधार अहिंसा ही है तो इसे अत्युक्ति न कहा जाय।

अब हमें यह समझना चाहिए कि अहिंसा का स्वरूप क्या हो। मैं नहीं समझता कि अहिंसा कोई आकाश-विहार की चीज है अथवा धर्म-ग्रन्थों में लिखी रहने लायक कोई रहस्यमय चीज है, बल्कि निश्चित रूप से अहिंसा जीवन में रोजमर्रा के व्यवहार में काम आनेवाली चीज है। मन का विवेक और जीवन का विवेक ही अहिंसा की भावना को जन्म देता है। हाथों का समय, पैरों का समय, बाणी का समय, इन्द्रियों का समय, मन का समय इत्यादि हमारे जीवन की ओ समय-मूलक प्रक्रिया है, वही अहिंसा है।

“ अब लड़क पर किसी वित्तपत्रे हुए प्राणी की हृय देखते हैं, तब हमारे मन में एक सहज प्रवृत्ति और महानुभूति की भावना उत्पन्न होती है। इन मनमें की एक नहीं लफ्फे और सहज ही वित्तपत्रे हुए प्राणी की सेवा के लिए अपने की समर्पित कर देते हैं। बाहिर बह गया है ? वह अहिंसा भी ही भावना है जो अपने सहज रूपों में हमारे जीवन में प्रकट होती है।

अहिंसा का समग्र रूप



कोन ऐसा कहते हैं कि किसी प्राणी की न मारना वा किसी की हत्या न करना ही अहिंसा है। लेकिन वे अहिंसा के इन पक्षों की पूर्णतया की ही समझ पाते हैं, ऐसा कहना पड़ेगा। क्योंकि अहिंसा एक बड़ा जीवन-वर्धन है। कसबा संबंध परीर से भी ज्यादा जब के जोड़नाओं के और चित्त की वृत्तियों से है। जो साबक अहिंसा न इतना बड़ा न केवल करीर से और न केवल चरित से जलिक मन के ही किसी के प्रति बुरा विचार नहीं करना। कभी कभी ऐसा होता है कि आसानी करीर के द्वारा किसी का नुकसान करना ये वा किसी को मारने से वा किसी की हत्या करने में बाधपूर्ण होता है। फिर भी यह सब-ही-मन वृत्तियों वा भाव अनुशा रखा है। उनके मन में माया प्रचार की प्रचल वृत्तियाँ पैदा होती रहती हैं। ईर्ष्या और नीच मत्सर इत्यादि माया प्रचार की वृत्तियों में बहका हुआ व्यक्ति और हिंसक है, उनके ही यह किसी-की नीच के प्राणी का अपहरण न करे। साब तीर से नीच वृत्तिकोण में 'और नीच चित्तों के साहित्य में हमें यह विचार खतुर माया में कपट्य होता है। बड़ा भावना के महत्त्व को स्वीकार किया गया है। 'प्राणीय' बंधों के एक बण्ड उदाहरण देते हुए बताया गया है कि समुद्र ॥ समुद्र

नामक एक क्षुद्र मत्स्य अपनी हिंसक भावना के कारण बड़े-बड़े मत्स्यों से भी अधिक हिंसक हो जाता है, जब कि 'वह मत्स्य' मन-ही-मन यह विचार करता है कि काश ! मैं भी बहुत बड़ा मगरमच्छ होता और तब समुद्र में फैले हुए हजारों जीव-जंतुओं को उदरसात् करता। उसकी यह कलुष भावना उसे घोर हिंसा के घेरे में डाल देती है। वाणी और शरीर की हिंसा से भी अधिक मन की हिंसा का स्थान है, क्योंकि जिस व्यक्ति के हृदय में अहिंसा का पावन स्रोत बहता रहेगा, वह व्यक्ति कभी भी वाणी से और शरीर से हिंसा का सहारा नहीं लेगा।

मनुष्य की ममस्त प्रवृत्तियाँ मन, वचन और शरीर की त्रिपुटी में आ जाती हैं। मानव जीवन इन्हीं तीनों के आस-पास घूमता रहता है। एक तरफ ऊँचा आकाश और दूसरी तरफ व्यापक, विशाल धरती। इन दोनों के बीच में मन, वचन और शरीर को धारण करने वाला मनुष्य। यदि वह इन तीनों के माध्यम से करुणा की सोयी हुई चेतना को जागृत कर ले, अन्तर में प्रेम के पुनीत प्रवाह को प्रवाहित कर ले, तो निश्चित ही उसके जीवन में एक मधुर आनंद भर जाये। तब धरती और आसमान के बीच फैले हुए इस विशाल ससार में कहीं भी दुःख, दैन्य, गरीबी, असतोष, अशांति इत्यादि दूषित भाव नहीं रहेंगे।

राक्षसी वृत्ति



हिंसा की भावना निहायत राक्षसी भावना है। भले ही बाहर से हमें मनुष्य का शरीर दिखाई देता हो, लेकिन अन्तर में वह राक्षस ही है जिसे न अपने आपका पता है और न अपने भ्रमूल्य जीवन का पता है। जो वासनाओं में भटक रहा हो, जो द्वेष तथा

समाधान अपने अंदर है

जीवन की अनेक समस्याएँ हैं। सारा ससार मनुष्य के सामने एक प्रश्न-चिन्ह बनकर खड़ा हो जाता है। बेचारा मनुष्य अपने को असहाय और दीन महसूस करने लगता है। फिर वह इधर-उधर भागदौड़ मचाता है। समस्याओं का समाधान ढूँढ़ने की कोशिश करता है। उसके भीतर एक ऐसी मिथ्या धारणा घर कर जाती है कि उसके जीवन की समस्याओं का हल कहीं बाहर होगा, इस दुनिया की किसी अमुक परिस्थिति में होगा। पर वास्तव में उसकी यह धारणा मिथ्या ही साबित होती है। जैसे किसी व्यक्ति को जख्म हाथ में लगा हो और वह मरहम पैर में लगाये, दर्द सिर में हो और चदन हाथों में लगाये तब उसे समाधान नहीं मिलता। उसी तरह समस्याओं का समाधान अपने अंदर होने के कारण मनुष्य को बाहर भाग-दौड़ करने पर भी शांति नहीं मिलती। काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ आदि विकार कहा हैं ? इन विकारों की बुनियाद कहा है ? यदि इसकी खोज की जाय तो मनुष्य को अतमंखी होना पड़ेगा। उसे इसकी खोज अपने अंदर करनी पड़ेगी। विज्ञान ने सृष्टि की खोज में अपनी सारी शक्तियाँ जुटा दीं, लेकिन अभी भी उसे सतोष नहीं हुआ, क्योंकि जब तक आत्म-संशोधन की या विद्वात्मा के अन्वेषण की ओर हमारा ध्यान नहीं जायेगा तब तक हमें चिर समाधान की प्राप्ति नहीं हो सकती। मानव के मन में एक सहज प्रश्न उठता है कि मैं कौन हूँ ? और वहीं से सारी सृष्टि का ज्ञान प्रारंभ होता है। पर दुख है कि हमारे वैज्ञानिक और भूतवादी चिंतक "मैं" की खोज को भूलकर सृष्टि की खोज में जुट जाते हैं।

हमारे पुछने विचारकों ने भी आत्मा की शक्ति को हमारे के लिए धरि बनाये मरुत बनाये तीर्थ-स्नान बनाये फिर भी उन्हें समाधान नहीं मिल सका क्योंकि यदि धरि धरि पर कहीं कोई नदी लगी हो तब तो नदी में स्नान करने, से तप्यई हो सकती है, केवल धरि पर बंधी अपने धरि है तब किसी मरु, तपिर या नदी-स्नान से बनिमता कैसे हासिल हो सकती है ? वास्तव में तो तब-से-बड़ा धरि, तब-से-बड़ा तीर्थ तब-से-बड़ा धरि तब-से-बड़ी मरुधिर अपनी आत्मा हो है । धरि-धरि मरुधिर की कोई आत्मशक्ति नहीं है । मनुष्य को मनुष्य के धरि पुछने की जरूरत है । यदि धरि धरि में मरुधिर बाकी मानव-धरि अपने धरि भी बड़ा धरि करे, तो निश्चय ही उसे मरुधिर नदी-नदी नीचे हासिल होगी ।

मुक्ति क्षेत्र



एक धरि एक क्षेत्र विज्ञान ने इंगित हुए तब "आपके बड़े पैरामीड का क्षेत्र क्षेत्र का क्षेत्र माना गया है । जिसका क्षेत्र विस्तार है ? क्या इसका क्षेत्र-क्षेत्र क्षेत्र क्षेत्र के लिए क्षेत्र गया है ? क्या यह क्षेत्र नहीं है ?

मैंने कहा, "क्षेत्र के लिए इसका क्षेत्र तो बाह्य ही क्योंकि यह क्षेत्र के लिए है । यही-यही क्षेत्र है यही-यही क्षेत्र है । हमने ऐसा माना है कि इस क्षेत्र पर मानव-क्षेत्र पैरामीड क्षेत्र क्षेत्र एक है । इसीलिए हमने क्षेत्र के क्षेत्र की धारणा भी पैरामीड क्षेत्र क्षेत्र की ही की है । क्षेत्र का क्षेत्र क्षेत्र है । यह क्षेत्र अपनी आत्मा पर क्षेत्र हुए क्षेत्र क्षेत्र की धारणा

डालता है, तब वह ईर्ष्या, द्वेष और कलह से ऊपर उठ जाता है। जब वह अनासक्त होकर श्रद्धापूर्वक आत्म-शोधन की प्रक्रिया में प्रवृत्त हो जाता है तब वह मोक्ष पा लेता है। उसे एक इंच भी, इधर-उधर होने की, अगल-बगल में गति बदलने की जरूरत नहीं है। वह जहाँ हो, वहीं रहे, आत्मस्थ रहे। वस्तुतः वहीं में ऊर्ध्व-मुख अमृत की धारा बह रही है।” यह सुनकर वे अर्जुन विद्वान् हसे और बोले कि “मोक्ष-मिद्धि के लिए बड़े गजब का रूपक है यह।” तो मैंने कहा, “यह बनावट नहीं है, बल्कि जैन तत्त्व-चिंतन की अपनी एक विशेषता है।”

जैन धर्म अहिंसा की अमृत-गंगा का पावन स्रोत अपनी आत्मा के अंदर ही ढूँढता है। यही मेरे कहने का सार था।

वह गंगा कौनसी है जो हमारे ही अंदर बह रही है? वह अहिंसा और सत्य की गंगा है जो हमारी नम-नस में प्रवाहित है। यदि हम उस पावन गंगा में स्नान नहीं करेंगे तो हमारा जीवन पवित्र नहीं हो सकेगा।

जीवन को पवित्र करने के लिए अहिंसा एक जीवन गंगा है, जिसमें अवगाहन करने के बाद मानवता का संपूर्ण विकास हो जाता है और दम व शोषण का जो नकाब मानवता के सुंदर चेहरे पर आज पड़ गया है, वह सहज ही फट जाता है। |

अहिंसा की कसौटी



हमारा धर्म सिखा ही कलहात क्यों न हो । बहस न करो न ही
धीर माना-बोझा की क्यों न हो । लेकिन अब तक हमने अहिंसा की
काया बड़ रही है । अब तक ही अब कुछ है । अहिंसा बड़ गरीर नहीं
यह कहना है । अहिंसा बड़ धर्म अहिंसा के अभाव पर ही बनता
है । अहिंसा के अभाव में बड़ आगे जाकर धर्म भी लुप्त हो
जाता है । उनी तरह को करो न जा जाना कहिये । अहिंसा कि
कर अहिंसा के बिना धर्म ही है । उनी तरह अहिंसा के बिना धर्म
निराकार । अहिंसा के मूल धर्म धर्म नहीं केवल अहिंसा-अहिंसा
काय है । कोई भी धर्म सिखा ही अहिंसा क्यों न हो । अब अहिंसा
बिना ही अब का धर्म क्यों न हो । अहिंसा अहिंसा कि नहीं ही नीर
क्यों न हो । किन्तु अब तक अहिंसा की अहिंसा हमने सिखात नहीं
रखी । अब तक बड़ धर्म अहिंसा कोई धर्म नहीं गणना । हमारा
अहिंसा-धर्म अहिंसा अहिंसा बड़ अहिंसा है । अब हमने अहिंसा की
अहिंसा का अहिंसा बड़ अहिंसा है । अहिंसा के अहिंसा का अहिंसा बड़
अहिंसा है, अहिंसा के अहिंसा अहिंसा अहिंसा अहिंसा है । अहिंसा
अहिंसा धर्म अहिंसा का अहिंसा है । अहिंसा अहिंसा अहिंसा अहिंसा
है । अब अहिंसा बड़ है । अब अहिंसा बड़ है । अब अहिंसा बड़ है ।
कोई भी अहिंसा नहीं बड़ । अब अहिंसा अहिंसा अहिंसा अहिंसा ।

अहिंसा का अहिंसा अहिंसा के अहिंसा है । अहिंसा अहिंसा
के अहिंसा की अहिंसा का अहिंसा है । अहिंसा अहिंसा के अहिंसा

जितनी श्रद्धा भगवान् के प्रति होती है, उतनी ही श्रद्धा अहिंसा के प्रति भी होनी चाहिए। अहिंसा निश्चय ही पूजा की चीज है और श्रद्धा का केन्द्र है। भगवान् के दर्शन प्राप्त करने के लिए कहीं दूर जाने की जरूरत नहीं है। भगवान् तो हमारे अन्दर बैठा है। उस विराट् स्वरूप के भगवान् को हिंसा के काले परदे ने छुपा रखा है। यदि हम उसके दर्शन करना चाहते हो, तो अपनी पूरी शक्ति के साथ इस काले परदे को हटा देना चाहिए। यदि हम अपने अन्दर विराजमान इस भगवत् तत्त्व को नजर-अदाज करते हुए चलेंगे, ठुकराते रहेंगे, उसकी ओर से पीठ मोड़कर रहेंगे तो हमें उस परम तत्त्व के दर्शन कैसे होंगे ?

विकार वासनाओं के रूप में—दम, द्वेष और ईर्ष्या के रूप में अहंकार, लोभ और क्रोध के रूप में अहिंसा की महान् शक्ति पर हिंसा का जो परदा पड़ा हुआ है, उसे हटाने का उपाय कोई कठिन नहीं है। हमारे मन में जो छोटी-छोटी आसक्तियाँ हैं, आकांक्षाएँ हैं और अभिलाषाएँ हैं उनको हम दूर कर दें। मन से ऊपर उठने की साधना करें, अतिमनस् जगत की ओर चलें। वस, हमें उस महान् तत्त्व के दर्शन सहज हो जाएंगे। उसके लिए कहीं बाहर सघर्ष नहीं करना होगा। कहीं भी भटकने की जरूरत नहीं पड़ेगी। किसी खास समय की भी जरूरत नहीं होगी। चाहे हम दुकान में रहें, या घर में रहें, या मंदिर में रहें, कहीं भी रहे, यदि हमारी आँखों के सामने, हमारे विचारों के सामने, हमारी जीवन-साधना के सामने, हमारे छोटे-बड़े कामों के सामने अहिंसा का आदर्श लिखा हुआ रहेगा तो हम सहज उस भगवत् तत्त्व के दर्शन करने में समर्थ हो सकेंगे। अपनी मनोवृत्तियों को, अपने कर्मों को अहिंसा के तराजू में तोलने की जरूरत है। यदि हम छोटी-छोटी मानसिक उलझनों में उलझे रहेंगे, यदि हम मान-अपमान,

बस-अपबस हत्यादि भीषणों में घटके रहेंगे तो कमबल राज्य के वर्तन
कभी नहीं हो सकते ।

मन से ऊपर



जी बरगिर ने अहिंसक बल के सर्वत्र में अत्यन्त
सुख दृष्टि से विवेचन किया है । वे लोग के बल पर अहिंसक को
साधना करते इस बरगिर को एक ऐसी पावन और स्वर्णमय बरगिर
का शास्त्र की कल्पना करते थे जिसमें कोई दुःख नहीं होता बीनता
वही होनी मुक्त नहीं होता अकीर्णता नहीं होनी साधनविच्छेद
वही होनी । यदि उनकी कल्पना की बहराई एक हय पशुओं और यह
अन्यत्र की कोशिश करें कि उनका यह चिन्तन क्या था तो हमें
अनामत ही यह मान्य हो जायगा कि उनका विचार कोई
आकाश-कल्पना या आध्यात्मिक आदर्श नहीं था । इस बरगिर पर
छत्र कुछ नश्वर है । यदि मनुष्य अपने मन पर विवेचन कर लें
यदि वह अपने मन की शक्तता से मुक्ति पा लें और यदि वह
अपने मन की छोटी-बोटी कल्पना से ऊपर उठ लें ।

आचार्य अन्तर्गत ने कहा कि राज्य का परमेश्वर नहीं है ?
परमेश्वर या परमात्मा कीजिए ? और कोई नहीं । इस संसार के
आशिकों के लिए, विविधता आपको के लिए, आत्मा का संकोचन
करने वालों के लिए अहिंसा ही परमेश्वर है । अहिंसा ही परमात्मा ॥
और अहिंसा ही परमेश्वर है ।

अन्यात् अन्त होता है, अकीर्ण होता है और अनिर्मित
होता है । यदि अहिंसा अन्यात् है, तो वह भी अकीर्ण एवं
अनिर्मित है । अन्तही परिभाषा की पीढ़ी-पीढ़ी में बीच अन्त

अत्यन्त अठिन काय हैं। शब्द दुर्बल होते हैं, कमजोर होते हैं और अहिंसा व्यापक चीज है। इसलिए शब्दों में यह समझ नहीं है कि अहिंसा की संपूर्ण परिभाषा को वे अपने में बहल कर सकें।

आत्मा का सबसे बड़ा गुण ज्ञान है। यदि ज्ञान का प्रकाश हमारे जीवन में न हो, तो हम अंधेरे में भटक-भटक कर अपनी प्राणशक्ति खो बैठेंगे। लेकिन यदि हमारे पास ज्ञान का दीपक होगा तो इस सारे ससार में फैले हुए अन्ध-श्रद्धा के अन्धेरे को मिटाने में हम समर्थ हो सकेंगे। आज हमें किसी और चीज की जरूरत नहीं है। केवल ज्ञान का दीपक जला देने की जरूरत है। अन्तर में ज्ञान का दीपक जलते ही अन्धी मान्यताओं का अन्धकार, बिना इजाजत लिये नौ दो ग्यारह हो जायगा।

मानव या दानव



१४

वास्तव में आज के मनुष्य के सामने सबसे बड़ा सवाल एक ही है कि उसे मानव बनना है या दानव? हालांकि यह सवाल बड़ा विचित्र लगता है, क्योंकि मानव मानव तो है ही, दानव होने का प्रश्न ही कहा उठता है? लेकिन फिर भी जब आज सभी विचारकों के सामने वह प्रश्न बड़े व्यापक रूप में उपस्थित हुआ है, तो उस पर हमें विचार करना ही होगा। मानव और दानव का भेद जाति से अथवा शरीर से नहीं, बल्कि वृत्तियों से, करना चाहिए। मानवीय वृत्तियाँ एवं दानवीय वृत्तियाँ ये दोनों समान रूप से वातावरण में कार्य करती रहती हैं। यदि हम दानवीय वृत्तियों को ग्रहण कर लेते हैं तो दानव बन जाते हैं और यदि हम मानवीय वृत्तियों को ग्रहण करते हैं तो मानव बन जाते हैं।

जबकि काफ़ से हथ डेखते जाये हैं कि प्राणी मानवता के मार्ग की छोड़कर मानवता के कृपण घर चटक जाता है। साथ इतिहास बताती है कि मनुष्य ने मानव बनकर इतनी भीतरह हिंसा के मूल किने कि जिसके बारे में कल्पना भी नहीं की जा सकती। उन्होंने विरीह प्राणियों के खून से कभीन भी रंग दिया। फिर भी उन्हें अपने इस महात् घमण्य की याद नहीं आती कि वे मानव हैं, मुझे अपने दर्ज से मानव बनना है।

यह संसार-मक बहुत बड़ा है। इस मक में जीव जनेक मस्तिष्कों में जनेक विचारों में और जनेक धोषियों के चटकता रहता है। यह भी एक बार नहीं कल्पना बार चटकता है। फिर भी यह वह निर्बंध नहीं कर पाता कि मुझे मानव बनना है या मानव ? क्योंकि जिस दिन प्राणी के हृदय में वा-मस्तिष्क में यह विचार जा पाता है कि मुझे मानव नहीं बल्कि मानव बनना है, उसी दिन वह अहिंसा की ऊँची भूमिका पर जा बैठता है। फिर उसे संसार की जमानकता से चक्कर काटने की शक्यता नहीं रहती। क्योंकि मानवता का अहिंसा के साथ पैदा ही संबंध है, पैदा ऊँचता का जन्म के साथ। बिना अहिंसा के मानवता भीषित नहीं रह सकती। जब मन में अहिंसा की कर्पोरि जकनी कमती है, जेन का सोच बहने कमता है, फिर दृष्टता की भावना जाय बहती है, तब अपने मनों में मानवता कमती है और अहिंसा का विचार मन जीवन में अवधारित होता है। फिर जमान् पैदा के दर्जन होते हैं, फिर पुष्करन और वाय वाय छोड़े होते हैं, फिर मानव मुक्त की राह पैदा है, फिर आत्मा जनेक जनेक से विवरण करने कमती है।

सब समान हैं



भगवान् महावीर ने अपने शिष्यों को उपदेश देते हुए कहा कि हे शिष्यो, इस दुनिया में जितनी भी आत्माएँ हैं, उन सब में एक समान चेतना है। सभी आत्माएँ समान रूप से सुख चाहती हैं। इसलिए समस्त सृष्टि के प्राणियों को अपनी ही आत्मा के समान समझो। जिस काम से तुम्हारी आत्मा को कष्ट होता है, वह काम तुम दूसरों के प्रति भी मत करो। दूसरों से तुम जैसा व्यवहार अपने लिए चाहते हो, वैसा ही व्यवहार तुम दूसरों के प्रति भी करो। जिस दिन तुम्हें अपनी आत्मा में और दूसरे की आत्मा में कोई अन्तर नहीं मालूम होगा उसी दिन तुम्हारी अहिंसा की साधना सफल होगी, अन्यथा अहिंसा का नाम केवल आडम्बर मात्र रह जायेगा। भगवान् महावीर का यह उपदेश हमारी वर्तमान समाज-रचना के लिए अत्यन्त उपादेय है। यह उपदेश केवल महावीर ने ही नहीं दिया। प्रकारान्तरसे अद्वैत के प्रतिपादक आचार्यों ने भी यही कहा कि इस संपूर्ण सृष्टि में एक ही चेतना है। यदि किसी काम से हमें दुख हो सकता है, तो उसी काम से दूसरों को भी दुख होगा। क्योंकि हमारी चेतना में और दूसरे की चेतना में कोई भेद नहीं है।

अहिंसा की यही कसौटी है। जिस दिन व्यक्ति अपने आप में जीने का अधिकार चाहेगा, उसी दिन वह दूसरे को भी जीने का अधिकार अवश्य देगा। यदि वह दूसरे को जीने का अधिकार नहीं देना चाहता तो उसे भी जीने का अधिकार नहीं मिलेगा।

कभी-कभी हम मोह-माया में आसक्त होकर ऐसा सोचने लगते हैं कि “मेरे लगी सो तो दिल में और दूसरों के लगी सो दीवार में”

बानी जोट लगने पर बीठा कुछ मुठे होता है, बड़ा बूझों को नहीं होता। लेकिन वास्तव में ऐसा समझना निहायत अन्धपूर्ण है और आत्मविश्वास का परिणामक है।

एक बार बनबाबू बहाबीर हैं एक दिवस ने पूछा कि प्रभु, आपने हिंसा क्यों छोड़ी ? और अहिंसा के पक्ष पर क्यों जाने ? अनेक कष्ट और पीड़ाएं सहन करते हुए भी इस दुर्बल मार्ग के साथ क्यों चले रहे हैं ? तब बनबाबू बहाबीर के उत्तर में होते हुए कहा कि प्रत्येक प्राणी के मन में अपने जीवन के प्रति आदर और आकांक्षा है। सभी अपनी गुरु-गुणिता के लिए बहुत प्रयत्नशील हैं। सब चाहते अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष हो रहे हैं। मनुष्य भी है, बड़े ही सब हैं ऐसा सोचकर मैंने हिंसा का त्याग किया है और बूझों को कष्ट देना छोड़ा है। यदि स्वर्ग को बहाला जाना पसन्द होता तो बूझों को बहाला न छोटे। यदि स्वर्ग को बहाला जाना पसन्द होता तो बूझों को बहाला भी न छोटे। लेकिन सब जीवन कुछ के लिए तरलते हैं और कुछ से बचते हैं। इसलिए अहिंसा की ही परंपरा बर्ताने के लिए मैंने स्वीकार किया है।

पाप और पुण्य



(इस प्रकार अहिंसा की बानी कभी-कभी अपनी ही भाषा में) जब और जबर्जस्त पुण्य और पाप और कुछ नहीं केवल अपनी भाषा के सम्मान में अपने ही व्यक्तिगत के के निम्न-निम्न बातें हैं निम्न-निम्न गर्ह्य हैं। कभी-कभी ऐसा होता है कि हम जिसे बर्ताने मानते हैं बूझों को बर्ताने समझ बैठता है। हम जिसे पुण्य कहते हैं बूझों को पाप कह देता है। लेकिन जब और जबर्जस्त की पुण्य और पाप की जगह और बुरे की

सबसे बड़ी कसौटी अपनी ही आत्मा है। उसी कसौटी पर हमें जीवन के प्रत्येक प्रश्न को कसना चाहिए। अनेक समाज हैं, उनकी अनेक समस्याएँ हैं, अनेक प्रश्न हैं, उनके अनेक प्रकार के सम्बन्ध हैं, उन सब सम्बन्धों की सुरक्षा और उन सब प्रश्नों का उचित समाधान पाने के लिए सबसे बड़ा सूत्र हमारी अपनी अनुभूति में निहित है। यदि कोई हमें मारता हो, गाली देता हो, धन छीनता हो, हमारी बहन-बेटियों के साथ अभद्र व्यवहार करता हो, उस समय हमारे मन की अनुभूतिमा क्षतक्षना उठती हैं। हमारे सस्कार बगावत करने लगते हैं। हमारी भावनाओं में विद्रोह भर जाता है। तब हम सहसा कह उठते हैं कि यह कैसा अधर्मी और पापी है? अधर्म और पाप वही है जिससे किसी दूसरे को कष्ट पहुँचे, समाज में असम्यता और अस-गतियाँ पैदा हों, अव्यवस्था और अनुशासन-हीनता को प्रथम मिले।

पाप और पुण्य की परिभाषा को ढूँढ़ने के लिए यदि हम हजार-हजार ग्रन्थों के हजार-हजार पृष्ठों को भी उलट देंगे, तब भी हमें उसकी परिभाषा नहीं मिलेगी। पोथियों को रगड़ने से या उनको सिर पर लादे रहने से कभी किसी प्रश्न का उत्तर नहीं मिलता। सबसे बड़ी चीज आत्म-मथन है, चिन्तन और मनन है। यदि हम अपने विवेक को जागृत करके बुद्धि की खिड़कियों को खोलकर के सोचने का, समझने का और ग्रहण करने का प्रयत्न करेंगे, तो हमें कोई परेशानी नहीं होगी।

एक मुसलमान हिन्दू स्त्री के अपहरण में धर्म समझ लेता है। एक हिन्दू मुसलमान स्त्री को बेइज्जत करने में धर्म मान बैठता है। तो क्या इन दोनों के लिए ऐसा करना धर्म हो जायेगा? जब हमारी स्त्री के अपहरण से हमें दुख होता है, तो हम दूसरे की स्त्री के अप-हरण को धर्म कैसे कह सकते हैं?

केवल ऊँचे-ऊँचे जाइयों की बलवान्ता में बालविक जीवन के प्रारंभ होने नहीं होते । आकाश में उड़ते रहने के बरती की समस्याओं का समाधान नहीं होता । इसे आकाश का वर्म नहीं चाहिए । हमें आकाश के आदर्श की भी जानकारी नहीं है । हम तो बरती के प्राणी हैं । बरती पर रहते हैं । इसलिए बरती के वर्म और बरती के आदर्शों को ही स्वीकार करते हैं । अभी-अभी कुछ लोग यह कहते हैं कि यह बात सकार निष्ठा है स्वयं है अन्याय है । किन्तु यह वे बाद-बाद दिन के दुखे हों और उनके सामने विचारों का बाध का बाध यह वे जब विचारों को स्वयं और निष्ठा मानते हैं या वास्तविक ? यह एक ऐसा प्रश्न है जो जल्द जल्द में बने तक बने हुए लोगों के विचार की भी अकालीन ज्ञातता है । इसलिए मैं इन सब बलवान्ता प्रधान बलिक प्रश्नों के विस्तार में जाना नहीं चाहता । मैं केवल इतना ही कहना चाहता हूँ कि वर्म जीवन के समस्त लूकलूक प्रश्नों से सम्बन्ध रखता है । जीवन के अन्याय वर्म को कोई रचना नहीं है । वर्म नहीं है जो हमारे वर्म जीवन का निर्माण करता है ।

न मारना और बचाना



अहिंसा के विस्तार में न मारने की बात और बचाने की बात बाद-बाद उठती है । कुछ लोग ऐसा समझते हैं कि किसी को न मारना ही अहिंसा है । और कुछ लोग ऐसा समझते हैं कि किसी मरते प्राणी को बचा देने का न ही अहिंसा का पूरा अर्थ सिद्ध मानना । पर वास्तव में दोनों बाने सम्पूर्ण हैं । एक व्यक्ति प्राण पर रहा है, स्वयं-वश कर प्राण है रहा है । निरीह और असहाय होकर प्राणी की रक्षा कर रहा है । उस समय यदि कोई आकर ऐसा कहे कि मेरी अहिंसा तुम्हें बचाने की इजाजत नहीं देती तुम्हें बचाना सर्वप्रथम को

पोषण देना है। मेरी अहिंसा तो इतना ही कहती है कि मैं तुम्हें मारू नहीं। उसका यह कहना कितना मूर्खतापूर्ण लगेगा। वहाँ किसी को न मारने का प्रश्न ही कहा उठता है ? इस तरह से अहिंसा का उपहासास्पद स्वरूप प्रगट करने वाले अहिंसा के वास्तविक रहस्य से अनभिज्ञ हैं। वे नहीं जानते कि मानव जीवन में सेवा और करुणा का, सहानुभूति और दया का कितना बड़ा स्थान है। वह जीवन निकम्मा जीवन है जिस जीवन में इस तरह की दया के लिए स्थान न हो। इस सम्बन्ध में अनेकों उदाहरण दिये जा सकते हैं। अनेकों व्याख्याएँ की जा सकती हैं। लम्बा-चौड़ा विश्लेषण भी किया जा सकता है। पर उतने विस्तार में जाने की जरूरत नहीं है। सबसे बड़ी और बहुत मोटी बात इतनी ही है कि न तो केवल किसी को बचाना मात्र ही अहिंसा है और न किसी को न मारना ही अहिंसा है, सदा निर्मल विवेक और विचार की आवश्यकता है। अहिंसा केवल बाहर में न मारना अथवा बचाना, इतना सा दिखावा नहीं है। बल्कि अहिंसा हृदय की वह सहज सहानुभूति है, करुणा है, सेवा है, दया है जो बरबस फूट पड़ती है। प्राणिमात्र को बिना किसी भेदभाव के अपने संरक्षण में ले लेती है। इसके अतिरिक्त अहिंसा की वे सब परिभाषाएँ निकम्मी हैं जो हमें तर्क-वितर्क में उलझाती हैं, शास्त्रार्थ और वितर्कावाद के लिए प्रेरित करती हैं, साथ ही जीवन के मूलभूत प्रश्नों से दूर रखकर ग्रन्थों के शृष्क और नीरस प्रमाणों में उलझाती हैं। जो अहिंसा आत्मा की चीज है, उस अहिंसा को यदि हम ग्रन्थों में, किताबों में, पोथियों में ढूँढने की कोशिश करेंगे, तो वह कहा से मिलेगी।

जीवें कैसे ?



पंडित ने महावीर से पूछा कि हे भगवन्, यह जीवन वास्तव है ।
 बाला-पीडा बछ्छा-बैछ्छा बल्लवा-बोल्लवा सब नहीं वाप ही वाप है ।
 इच्छिन् वाप देता पास्ता बताइए कि जिससे हम वापमुक्त होकर
 जी रहें । तब भगवान् महावीर ने बहुत ही सीधा कैफियत बहुत ही
 महत्त्वपूर्ण उत्तर दिया । उन्होंने कहा कि न बल्ला वाप है न बाला
 वाप है, न बोल्लवा वाप है, न बोल्ला वाप है । बस कि कुछ विवेक के
 साथ साथी विवेक के साथ रहो विवेक के साथ सोचो और विवेक
 के साथ रहो । जीवन के के बाहरी कार्य न वाप है न दुःख है ।
सबसे बड़ा पाप है अनिवेक-अवतता । यदि विवेक के साथ साथी वस्तु
 के साथ जीवन जीते हो तो यह जीवन संसार के लिए, कष्टमय के लिए
 और दुम्हारे बनने लिए सुखदायक होता ।

महावीर के कहने का तात्पर्य केवल इतना ही था कि कार्य और
 अहिंसा की कल्पना कटीकोटी विवेक ही है । वही विवेक है, वही अहिंसा
 है और वही विवेक वही है वही अहिंसा भी वही है ।



हिंसा के दो प्रकार



अहिंसा को ममझने से पहले हिंसा को समझ लेना अनिवार्य है। आखिर हिंसा क्या है, वह कैसे होती है, उसके लिए किन परिस्थितियों में मनुष्य मजबूर होता है, इत्यादि प्रश्नों पर हम विचार करें।

अहिंसा का साधारणतया अर्थ है—हिंसा का न होना। इस प्रकार शब्द शास्त्र की दृष्टि से अहिंसा, हिंसा का एक नकारात्मक भाव है। इसलिए हम अहिंसा के अन्दर रहे हुए, हिंसा शब्द की व्याख्या को पहले समझ लें। जैन विचारकों ने हिंसा के दो रूप बताये हैं। एक भाव हिंसा और दूसरी द्रव्य हिंसा। इन दोनों भेदों पर जब हम गहराई से विचार करते हैं, तो हमें ऐसा जान पड़ता है कि उन विचारकों ने ससार के सामने जीवन, सृष्टि और उसकी विभिन्न धारणाओं को बड़े अच्छे ढंग से, व्यक्त कर दिया है।

भाव-हिंसा का अर्थ है मानसिक हिंसा। ऐसी हिंसा, जिसमें सम्भवतः किसी प्राणी की हत्या न हो, कोई जीव न मरे, किसी को हम कष्ट भी न दे पायें, फिर भी हमारी आत्मा अन्दर से हिंसा के सकल्प से ग्रसित हो जाय, ऐसी हिंसा को भाव-हिंसा कहा गया है।

यह हिंसा ही मानव आत्मा को सर्वाधिक कलुषित करने वाली हिंसा है। जब मन में किसी के प्रति द्वेष जगता है, या मिथ्या सकल्प-

विचलन पैदा होते हैं। वा बोली व्यापार आदि दुष्कर्म्म करने के नाम पैदा होते हैं, तब हमारी आत्मा नाक-हिना से आन्ध्राविष्ट हो जाती है।

बैसा कि हमने ऊपर बताया—नाक हिता के बिना दूसरे का नहीं बलिष्ठ स्वयं अपना ही नाश होता है। जब हमें जोश आता है तो दूसरे का कोई भ्रूणघात मने ही हो या न हो। लेकिन हमारे मन के एक छद्म की प्रज्ञा कम जाती है। परितुष्ट कहने लगता है। विचार नष्ट हो जाते हैं। वही तब-से-वही होता है जो दूसरे की नहीं बलिष्ठ स्वयं की कष्ट होती है।

हिंसा पराक्रम वृत्ति एवं चर्चा से हमारे समाज के और संतुर्ण बीच-बम्पू में एक प्रखर की सम्भवस्था उत्पन्न हो जाती है। जब हम अपने विचारों का संतुलन खो बैठते हैं और दूसरे चीजों को भी चीजे का बहिष्कार है। वह मुक्त भावे हैं। तब हम स्वार्थी बनकर, कुछ छोड़कर बनकर दूसरों के जीवन की हकाने के लिए उत्तर हो बैठते हैं। तब तभी हम हिंसा के कल्पनों में रस खाते हैं।

बाहरी बाहर संघर्ष करता है। लड़ाईयां लगता है। हमारे संबंधों को पराविष्ट भी कर देता है। लाखों जीवों के प्राणों का अपहरण भी कर देता है, फिर भी वह विजयी नहीं रहता रहता। शास्त्रकारों विचारकों और चिंतकों की श्रुति में वह तभी विजयी हो सकता है जब वह अपनी आत्मा के बाव संघर्ष करे, अपनी आत्मा को विष सर्वदुःखारिक्त अनुभूति में डेर रखा है, उनको पराविष्ट करे। वे ऐसे अनुभूति की एक मोटी पत्थरी के पिछाई नहीं होते। हाकारों से धनु बाहरी अनुभूति से अधिक अंतराल और बर्यकर होते हैं। बाहरी धनु केवल मान लेते हैं। लेकिन वे आधुनिक धनु आत्मा के अनुभूति को नष्ट कर देते हैं। मठा मनमान् महावीर ने बार-बार यह कहा है कि बाहर के अनुभूति से नहीं बलिष्ठ अन्तर के अनुभूति से कुछ करो और जब कुछ में विजयी बनो।

द्रव्यहिंसा

केवल द्रव्यहिंसा क्या है ? व्यक्ति अन्दर में स्वच्छ है, निर्मल है, निर्वैर है । किसी को कुछ भी कष्ट नहीं देना चाहता, अपितु सबका संरक्षण ही चाहता है, फिर भी जीवन के विविध प्रवृत्ति-चक्रों में यदि किसी प्राणी का हनन हो जाए, तो वह द्रव्य हिंसा है । द्रव्य का अर्थ स्थूल है । अर्थात् इस प्रकार की हिंसा केवल कहने मात्र की हिंसा है, वास्तविक हिंसा नहीं ।

किसी के द्वारा किसी जीव का मर जाना मात्र ही अपने आप में हिंसा नहीं है, अपितु क्रोध भाव से, मोह भाव से, माया भाव से या लोभ-भाव से किसी जीव के प्राणों को नष्ट करने की प्रवृत्ति ही हिंसा है । जैन विचारकों ने कहा है कि “प्रमत्त योगात् प्राणभ्यपरोपण हिंसा” (—तत्त्वार्थ सूत्र ७-१३) याने प्रमादवश किसी के प्राणों का अपहरण ही हिंसा है । उक्त कथन का अर्थ इतना ही है कि हिंसा का मूल आधार कषाय भाव है । बाहर में किसी की हिंसा हो या न भी हो, किन्तु अन्दर में कषाय-भाव है, राग द्वेष है, तो वह हिंसा है । इसके विपरीत जो साधक कषाय-भाव में न हो, प्रमाद अवस्था में न हो, फिर भी यदि उससे किसी के प्राणों की हिंसा हो जाय तो वह द्रव्य हिंसा है, भाव हिंसा नहीं । ऐसी हिंसा बाहर में प्राण-नाशक होते हुए भी हिंसा नहीं मानी जाती । वीतराग आत्माओं की यही स्थिति है । क्योंकि वे राग-द्वेष से मुक्त हैं, इसलिए समस्त प्रकार की हिंसाओं से भी मुक्त हैं । उनके शारीरिक हलन-चलन से जो हिंसा होती है, वह पापमूलक भाव-हिंसा नहीं कही जाती । वीतराग पथ का यात्री अप्रमत्त साधक भी जितने अंश में राग-द्वेष से अप्रभावित रहता है, उतने अंश में वह वा हिंसा होने पर भी पाप का भागी नहीं होता ।

एक हाथ विवेकपूर्वक भिन्न के लिए जाता है वा कोई गृहस्थ विवेकपूर्वक भग्न भिन्न करता है। वह समस्त उसके अन्तर्गत में किसी भी जीव को मारने की भावना नहीं है, फिर भी यदि अनजान में कोई जीव मर जाने है तो नहीं कहा जावेगा कि उसने जीवों को मारा नहीं किन्तु वे जीव स्वयं मर गये। इस प्रकार के जीवों के मरने में पाप-बंध नहीं होता। नहीं मरत आचार्य ब्रह्माण्ड ने भी नहीं है। उन्होंने कहा है कि अपने विषयों के साथ यदि कोई साधक विवेकपूर्वक अपने के लिए पाप उठावे फिर भी अज्ञानक परि कोई जीव उसके नीचे आकर मर जाय तो वह साधक को वह जीव के मरने के कोई पाप नहीं होता क्योंकि साधक की भावना पूर्वस्था निर्मल है और वह पूर्वस्था अपने विषयों में प्रवृत्त है। जैसे कमल का फूल कीचड़ में पैदा होता है। कीचड़ में ही बढ़ता है और कीचड़ में ही खड़ा है, फिर भी वह स्वयं कीचड़ के सर्वथा विनिष्ठ रहता है। ऐसे ही अपने विषयों और मनीषाओं के आनन्दक साधक जीवानुक्त उत्तर में विचरन करता हुए भी पाप के विनिष्ठ नहीं होता। क्योंकि उसके अन्तःकरण में कल्याण का अर्थात् जोर बहुत रहता रहता है।

हिंसा के से जी जी जन अताये गये हैं वे बहुत सीधे हैं और बहुत दम्य हैं। बुद्ध इसमें नहीं है कि साधक की भाव हिंसा के अन्तःकरण प्रवृत्त रहना चाहिए और यदि भाव-हिंसा से हमारा हृत्कारण ही जाता है तो इन्हीं हिंसा के लिए कोई आध परेखापी की बात नहीं ऐसी।

वह अपूर्ण अथवा एक प्रकार से हिंस्रान्वित ही है। जहाँ जोर के आभावरण में हमें ऐसा दिखता है कि एक जीव दूसरे जीव को भिन्न करने के लिए श्रमलबीज है। वह जोरों पर खानी होता रहता है। अज्ञानकी निर्मल की प्रतीति आकरा चाहता है। "बीबी बीकल्प बीकल्प" ऐसा कहा भी जाता है। इस राजनीतिक और आर्थिक

जीवन में भी यही देखते हैं। बड़ा राष्ट्र छोटे राष्ट्र पर कब्जा करना चाहता है। धनवान् व्यक्ति गरीबों का शोषण कर के धनवान् बने रहने को कृत मकल्प है। ऐसी वीहृष्ट परिस्थिति है। इस परिस्थिति में से हम अपने आपको बचाना है। केवल अपने आपको ही नहीं, आसपास के समाज को भी बचाना है। यदि हम यह मान लें कि सारी दुनिया में भले ही हिंसा होती रहे, हमें उससे कोई मतलब नहीं, तो यह एकांगी चिंतन ही माना जायेगा। सर्वांगीण दृष्टि से सोचा जाय तो व्यक्ति अकेला नहीं है। वह सामाजिक प्राणी है। इसलिए समाज में चलने वाली हिंसा के प्रति वह भी उत्तरदायी है। इस सदर्भ में हर व्यक्ति को ऐसी कोशिश करनी चाहिए कि समाज में फैली हुई हिंसा रुके तथा अहिंसा का प्रचार हो। केवल वैयक्तिक अहिंसा या वैयक्तिक साधना से पूरा समाज नहीं सुधरेगा। वैसी साधना का अब युग भी नहीं है। जब तक समाज में हिंसा फैली हुई है, जब तक समाज में पाप फैला हुआ है, भ्रष्टाचार और अन्याय बढा हुआ है, तब तक हम हिंसा से प्रत्यक्ष रूप में सम्बन्धित न होते हुए भी यदि उस ओर उपेक्षा रखते हैं, तो उस हिंसा के प्रति जिम्मेदार हैं। 'यह प्रत्यक्ष जिम्मेदारी हमें महसूस करनी चाहिए। क्योंकि' यदि हम उस जिम्मेदारी से बचेंगे, तो समाज के प्रति हमारा जो कर्तव्य है, उसे भूल जायेंगे। यदि उस सामाजिक जिम्मेदारी के प्रति हम उदासीनता बरतेंगे, तो हमारा दृष्टिकोण अत्यन्त सकुचित हो जायगा। इन सारी बातों को सोचते हुए और यह समझते हुए कि समाज से हमें बहुत कुछ मिला है, इसलिए समाज की सेवा करना भी हमारा धर्म है, हमें समाज में फैली हुई हिंसा को रोकने के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए।

समग्र-साधना



अहिंसा को सब हूय जीवन के छठारने के लिए चम्पै है ठग हमार सारने तीन प्रकार बाटे है । बर्बान् मन से बचन से और छरीर से अहिंसा भी साधना होनी चाहिए । यदि अहिंसा को बर्बानीय बन के सिद्ध करना है और जीवन के अत्येक क्षेत्र में हिंसा से बचना है तो अहिंसा को सब बचन और छरीर से साधना होना ।

छरीर पर नियन्त्रण रखने के छरीर के द्वारा होने वाले सब बाटे है । इसी तरह बचन और मन पर अनुष्ठान कया होने से बचन और मन के सब भी सब बाटे है । सब हूय आत्माओं से सब समझ पकड़े है कि कर्म-अन्धनी से दूर रहने के लिए हमें तीनों ही द्वार बन्द करने होवें । सब बचन और छरीर, के तीनों हिंसा और अहिंसा की बाजार-दुमिकाए है ।

एक-एक क्षेत्र के भी तीन-तीन उपभेद होठे है । जैसे छरीर में हिंसा करना हिंसा करवाना और हिंसा करने वाले का समर्थन करना । इसी तरह बचन से और मन से भी करवा, करवाना और समर्थन करना । सब प्रश्न उठ सकता है कि बाकिर भी पाप सम्भव होठे है, के स्वयं हिंसा करने से ज्यादा होठे है या करवाने से या समर्थन करने से ? सब परभावपूर्ण हिंसा के स्वयं करने से ही ज्यादा पाप मानते है । परन्तु यह एकान्त सत्य नहीं है । कभी-कभी स्वयं हिंसा करने से ज्यादा पाप नहीं होठा बितना करवाने से ही बाठा है । इसलिये हिंसा के कर्म और ज्यादा होने का कोई एक स्पूक बर्मान्नीटर बचना

मापदण्ड नहीं बनाया जा सकता। हमने पहले इस बात को काफी स्पष्ट कर दिया कि हिंसा और अहिंसा का अथवा पाप और धर्म का माप-दण्ड विवेक है। किसी भी तरह का बाह्य क्रिया-कर्म नहीं। कभी-कभी ऐसा होता है कि हम खुद तो सब प्रकार की हिंसाओं, पापों और असत् कार्यों से अपने आपको निवृत्त कर लेते हैं, परन्तु दूसरो से वही काम निर्दयतापूर्वक करवाते रहते हैं। फिर मन में ऐसा समझ लेते हैं कि हमने तो कुछ किया ही नहीं। और जब हमने कुछ किया ही नहीं, तो हमें पाप कैसे लगेगा? जिसने प्रत्यक्ष रूप से पाप किया है, उसी को पाप लगना चाहिए। इस तरह से हम अपने मन को भुलावें में डाल लेते हैं। परन्तु वास्तविकता यह है कि अगर हमारे निमित्त से, हमारी आज्ञा से हमारे किसी भी प्रत्यक्ष या परोक्ष सकेत से कोई भी पाप होता है, तो उसमें हमारा भी पूरा उत्तर-दायित्व है।

अगर हम अपनी ओर से किसी भी व्यक्ति को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष थोड़ा भी कष्ट देते हैं, तो उसमें हिंसा तो होगी ही। यहाँ तक कि अगर एक मजदूर भार लेकर चल रहा है और एक-एक कदम बोझ से लड़ा चला आ रहा है, वह हाफ रहा है, पसीने से लथपथ है, तो उसे रास्ते से हटने के लिए भी नहीं कहना चाहिए। चाहे कोई राजा हो, या साधु-सन्त हो, उस मजदूर के लिए सबको हट जाना चाहिए। रास्ता दे देना चाहिए। सम्यता और सस्कृति की आत्मा को समझने वाला हर व्यक्ति इस बात से इन्कार नहीं करेगा। यदि बच्चे को रास्ता देना हो, तो भी सबसे पहले देना चाहिए। यदि किसी बूढ़े को रास्ता देना हो तो भी सबसे पहले देना चाहिए। फिर किसी स्त्री को रास्ता देना हो तो उसे भी प्राथमिकता देनी चाहिए। यथा प्रसंग किसी साधु, सन्त एवं अतिथि आदि को रास्ता देना हो तो उसे भी प्राथमिकता देनी चाहिए। और इन सब में भी यदि किसी श्रमिक को

उत्पन्न होता हो तो सर्वप्रथम अधिक की आराधना अन्तर्धर्म की उत्पत्ति में रहते हुए उसे आध्यात्मिकता देनी चाहिए ।

प्रवृत्ति-निवृत्ति



प्रवृत्ति और निवृत्ति के जीवन के दो मुख्य अंग हैं । कोई भी भित्तिक बंध बंध और बंधन के बारे में सोचता है तब उसके सामने प्रवृत्ति और निवृत्ति अलग भिन्न के रूप में सामने आकर खड़ी हो जाती है । कुछ लोग ऐसा समझते हैं कि प्रवृत्ति करना धर्म है और कुछ लोग ऐसा समझते हैं कि निवृत्ति ही धर्म है । किन्तु हमें सोचना चाहिए कि ये दोनों विचार एक ही हैं । कुम्भार धान्य खाता भिक्षु प्राणी होने के नाते प्रवृत्ति-व्यवहार होता है । वह धान्य की फिटी की प्रवृत्ति से कुछ नहीं मोड़ सकता । मोड़ धर्म ईश्वर इत्यदि की केवल एक ही बातें करके अपने आपको प्रवृत्ति से मुक्त कर केना बुद्धिमायी नहीं है । धर्म ईश्वर और साधना की बातें वैयक्तिक जीवन में अपना अस्तित्वपूर्ण स्थान रखती हैं । लेकिन समाज की समाज के साथ गूढ़ संबंध हैं । जो धर्म को साधना और सो संस्कृति जीवन और समाज से संबंधित नहीं है वह धर्म साधना और संस्कृति धर्म की नींव साबित हो जाती है । धर्म का अन्त ही समाज की चारण करना है । 'यस्मात्' चाहते प्रभा । जो धर्म समाज की चारण नहीं करता समाज की निःशेष एवं अस्तित्व नृक प्रवृत्ति को है नृह मोड़ता है समाज के विचार की दिशा में अपने आप को मोड़ता नहीं है वह धर्म अपने अर्थ है पूर बटक जाता है । इसलिए प्रवृत्ति से बचराना नहीं चाहिए । कुछ लोग ऐसा समझ बैठते हैं कि हमने तो संसार त्याग दिया है समाज छोड़ दिया है पर-परिहार छोड़ दिया है, फिर हमें आध्यात्मिक कार्यों से क्या

मतलब ? लेकिन उनकी यह धारणा गलत और भ्रमपूर्ण है। जो साधु समाज से मुह मोड़ लेता है, समाज के प्रश्नों को हल नहीं करता, समाज की समस्याओं के बारे में सोचता नहीं, उस साधु को इस समाज में रहने का अधिकार कैसे दिया जा सकता है ? फिर तो उसे पहाड़ों में जाकर एकान्त समाधि लगानी चाहिए। जब हम समाज से अन्न लेते हैं, समाज से कपड़ा लेते हैं, समाज से मकान लेते हैं, समाज से सुरक्षा लेते हैं, तब हमें समाज की यथोचित सेवा भी करनी चाहिए। इस दृष्टिकोण से देखने पर हम यह अच्छी तरह से समझ जायेंगे कि अहिंसा केवल नकारात्मक या निवृत्तिपरायण नहीं है। उसका विधायक पहलू भी है और प्रवृत्तिमूलक दृष्टिकोण भी है।

इस पृष्ठभूमि से यह स्पष्ट हो जाता है कि करने में ज्यादा पाप हैं या करवाने में अथवा अनुमोदन में ज्यादा पाप हैं। जैनधर्म तो अनेकातवाद का प्रतिपादक धर्म है। हर समस्या को अनेकात की दृष्टि से हल करना चाहिए। यदि हमारा विचार सुस्थिर है, विवेक अभीष्ट लक्ष्य-विदु में केंद्रित है तो किसी कार्य को स्वयं करना अथवा दूसरों से करवाना दोनों ही प्रकार के मार्ग निश्चित रूप से ठीक होंगे। विवेक के द्वारा ही पापों के प्रवाह से बचा जा सकता है। जहां अविवेक का बाहुल्य है, अज्ञान है, आग्रह है, वहां पाप के अधिकाधिक - मार्ग खुले हुए हैं।

भोजन बनाने के ही प्रश्न को ले लीजिये। यदि बी० ए० और एम० ए० पढी हुई ऐसी लड़की को, जो भोजन बनाना नहीं जानती, उसे ई घर में बैठा दिया जाये तो वह न जाने कितनी अव्यवस्था पैदा कर देगी। ऐसी स्थिति में उस भोजन से घर के वातावरण पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। तब आपको यही कहना होगा कि यदि हमने स्वयं भोजन बनाया होता तो शायद यह अव्यवस्था और असंगति

नहीं न होती। इस तरह यदि कोई कुछ स्वयं मित्रों के लिए अपने के बड़े किसी अपने नीतिविधियों सिद्ध को विचार्य देखे देता है तो सबसे भी कई तरह की अंतर्भावियां पैदा हो जाती हैं। क्योंकि जब सिद्ध को यह पता नहीं होता कि कहाँ से जिसकी और किस चीज की आवश्यकता है। जिस घर से मित्रों के रहने हैं वहाँ कुर्सी और बच्चों के लिए कुछ बन रहा है या नहीं? जैसे अन्य प्राणियों की हिंसा का भी कोई ध्यान नहीं रहता। इस प्रकार के धर्मों पर दूसरे के काम करने की अपेक्षा स्वयं करना ही अधिक प्रमुख होता है।

तीव्र प्रण है हिंसा के धर्मों का। कभी-कभी न तो व्यक्ति स्वयं हिंसा करता है और न किसी से कराता है। वह केवल करनेवालों की सहायता करता है। कहीं कहीं हुई, लोगों के लिए बड़े समाजवादी भावों के सिरे पर बड़ा होकर सब कदाई का मार्ग देता जाता है और कहता है वाह! मान्य मित्रों के बीच रहना समाज देखने की विद्या है। कहा गया था। बहुत प्रमुख हुआ कि इसका लिए बूझ और कसकी हस्तियों का अनुसरण किया गया। ऐसा कहकर कदाई का धर्म करने वाला और कदाई की सहायता करने वाला किसी पापी के बन जाता है यह करना भी भी है। लड़ने वालों के रिश्ते में न जाने क्या बातें होती। कसकी भावनाओं का देश न जाने जिसका तीव्र या मन्द या केवल तीव्र दर्शन ने तो बिना किसी मतलब के धर्म ही अपने मन की अनुचित कर सका। इस तरह बाहिर है कि कभी-कभी हिंसा करने और करने के भी इसका धर्म करने में अधिक पाप हो जाता है।

एक कहावत और हिंसा का। हिंसक विरुद्ध-द्वंद्व की धर्मकर जाका है दुश्मन की लौक है जाका भावना भाव जाता है। परन्तु बीदा कि कहा जाता है, उठने कुछ न बनन हाथ से एक भी पीपी

नहीं चलायी और एक भी सैनिक का अपने हाथ से खून नहीं किया। वह फौजों को लड़ाता रहा, लेकिन स्वयं मैदान में नहीं आया। तो क्या यह माना जाय कि प्रत्यक्ष रूप से मैदान में लड़ने वाले सिपाहियों के वजाय हिटलर को हिंसा का पाप कम हुआ? वह कह सकता था कि मैं तो अहिंसक हूँ। मैंने लड़ाई नहीं लड़ी। मैंने एक चाकू भी नहीं चलाया। मैंने खून की एक बूंद भी नहीं बहायी। लेकिन उसका यह कहना कोई अर्थ नहीं रखता। क्योंकि उसके एक इशारे पर गाव के गाव नष्ट हो गये। शहर के शहर तबाह हो गये। सारे विश्व में अशान्ति की आग भड़क उठी। इन सब बातों पर जब हम गम्भीरता से विचार करते हैं, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि हिंसा और तज्जन्य पाप की न्यूनाधिकता भावना पर और विवेक शक्ति पर आधारित है, उसका कोई बाहरी माप-दण्ड निर्धारित नहीं किया जा सकता।

जो साधक, पूर्ण अहिंसा की साधना करना चाहते हैं, उन्हें, तो तीनो प्रकार से हिंसा पर रोक लगानी चाहिए। हमें इस चक्कर में पड़ने की जरूरत नहीं कि कौन-सा प्रकार ज्यादा हिंसादायी है और कौन-सा प्रकार कम हिंसादायी है। हिंसा, हिंसा ही है। इसलिए हर हालत में तीनों प्रकार से उससे बचने की जरूरत है।

आज समाज की जो परिस्थिति है, उसे देखते हुए अहिंसा को स्वीकार करना अनिवार्य हो गया है। यदि दुनिया अहिंसा को मानकर नहीं चलेगी, तो वह बच नहीं सकेगी। या तो सर्वनाश का मार्ग है या अहिंसा का मार्ग है। क्योंकि विज्ञान ने हिंसा के रूप को बहुत भयंकर बना दिया है। आज पहले जैसे छोटे-मोटे झगड़े को यो ही नहीं चलने दिया जा सकता। छोटे-छोटे दो राष्ट्र आपस में लड़कर एक को हराकर दूसरे पर विजय पाकर आनन्द से शासन करने लगें, ऐसा आज के वैज्ञानिक युग में सम्भव नहीं है। दो छोटे राष्ट्रों की

कड़ाई भी बाध मिल-मुझ का क्य वारण कर केती है । इस मिल
मुझ मे की उच्चभार से बन्धक है या तीर-कमान से कड़ाई नहीं
होती । बाध की कड़ाइयां तो मशीनमनों से वा बन्दू-बर्षों ॥ होती
है । हिरोशिमा पर बन्दुबम पिया थावाहामी पर बन्दुबम पिया तो
नहीं बल्के बूडे बीमार, अपाहिष पिछार्थी रिपयां छत्र के छत्र
बल्य हो गये । बन्दुबम के पास देखा विवेक करने की क्षमि नही
है कि कीय केरा कुचन है और कीय विरवरण । ऐसी निकट पीर-
स्थिति मे यदि ह्य अहिंसा को स्वीकार कर के नहीं चर्चने तो कोई
बाध नहीं है ।

बाध दुनिया के मिलने बड़े-बड़े राजनीतिज्ञ हैं, वे एक स्वर से
बहु बंधुर करते हैं कि मुझ नहीं होना चाहिए । बाध की उच्च-
स्वाधी का ह्य प्रेम है उच्चकोले के बलभीत के होना चाहिए । यदि
हम उन्हें तो बलाय का पिछात कुचिस्त ही मानेना । इवति एक
मानेनी । विद्या संस्कृति सम्पदा और विज्ञान बल्य हो बर्चने ।
माधवदा अपाहिष हो मानेनी । आम्पात्तिकता बन्दु हो मानेनी ।
बाध उधार एक समझान बन मानेना । मुझ की ऐसी बलायकता
पूछे के मुचो में नहीं होती की । केचिप इस बढी ह्य विज्ञान के
विद्या और मुझ के क्य की बर्चकर बलाकर अहिंसा की बलिबार्चता
को छिद्र कर दिया । अहिंसा के ह्य में बहु बल्य ही बल्य हुआ है ।
बद मान्य अहिंसा को स्वीकार करने के लिए बल्यनिष्ठ हो बल्य
है । बाध मिलने राजनीतिज्ञ एक बल होकर अहिंसा को मुकार कर
रहे हैं, कलने राजनीतिज्ञ किसी भी युग में बल्यकता अहिंसा की मुकार
करने वाले नहीं थे । विज्ञान के दूर-दूर बसे ह्य राज्यों को मचरीक
जाना है । बाध बन्दुध पार रखने वाले यमुष्यों की एक बूधरे से
बल्यनिष्ठ कर दिया है । अमेरिका में रहे बाधपिर्नों को ह्य हिन्दुस्तान
मे बीडे ह्य देव बकते हैं, उचके मान्य युग सकते हैं, बकते बाध
कर ककते हैं । बहु बला, अहिंसा बन रहा है, नया युग बन रहा है ।

अहिंसा के दो रूप

किसी जीव पर अनुकम्पा करना, दया करना या अनुग्रह करना अहिंसा है, इस प्रश्न पर किसी का कोई मतभेद नहीं हो सकता। किन्तु प्रश्न यह उपस्थित होता है कि निग्रह मे यानी पापी को या अपराधी को दण्ड देने मे अहिंसा है या हिंसा ? यहा इसी गम्भीर प्रश्न पर हमे विचार करना है। आमतौर पर यह माना जाता है कि दण्ड मे अहिंसा नही है, क्योंकि जिसे दण्ड दिया जाता है उसे स्वभाव-तया कण्ट होता है और जब कण्ट होता है, तो वह अहिंसा कैसे हो सकती है ? यह सहज प्रश्न सामने आता है। परन्तु धार्मिक शासन-व्यवहार मे ही हम देखते हैं कि सध मे आचार्य का बडा महत्त्व है। आचार्य और गुरु अपने शिष्यो पर अनुशासन चलाते हैं, उनका निग्रह करते हैं और अपराध करने पर उन्हें दण्डित भी करते हैं। यदि जैनधर्म के अनुसार अनुग्रह ही अहिंसा है और निग्रह अहिंसा नही तो आचार्य के लिए कोई स्थान नही होना चाहिए, क्योंकि जैन धर्म मे हिंसा के लिए कोई स्थान नही है। जब हिंसा के लिए स्थान नही है, तो हिंसा-स्वरूप दण्ड के लिए भी कोई स्थान नही होना चाहिए। और इसलिए दण्ड का विधान करने वाले आचार्य के लिए भी स्थान नही होना चाहिए।

आचार्य, सध का नेतृत्व करता है। वह देखता रहता है कि कौन क्या कर रहा है और किस विधि से कर रहा है। कौन साधक किस रास्ते से जा रहा है। सब ठीक-ठीक चल रहे हैं या कोई पथ से विचलित भी हो रहा है ? जब साधक अपने रास्ते पर चलता है, तब उसे आचार्य से अनुग्रह मिलता है, किन्तु यदि कोई साधक अपनी

माधवा के शरीर से अष्ट होता है। तो माधवाय पुनर्जीव दंडित बाण है। और उन पर अनुयायन कहा जाये है। माधवाय का यह कठोर निष्ठह, अनुग्रह से निजी भी अष्ट में कम भूत्पथान नहीं है। अनुग्रह के भवान निष्ठह भी चर्य ही है। चर्य नहीं।

माधवा-अहिता के अनुसार साधु का यह चर्यम् अष्टकावा क्या है कि कदाचिन् साधु नर्वाच मे बाहर क्या बाध या बलती कर हैं। तो बने कर्मों को उत्पन्न समुदाय लेना चाहिए। और स्वयं ही माधवाय को अपने दोष या शरीर को नुबना है ऐसी चाहिए। बाड़े अनुग्रह किटना हो माधवान वजों न रहे, किन्तु बाध एक यह। माधवाय साधवा मे क्या हुआ है। एक एक उनसे निजी-न-निजी छोटी-मोटी बल का हो जन्मा स्वाभाविक है।

आगुति

★

अथवा महावीर ने कहा है कि 'अनेक लक्ष माधुत एव। आगुति ही जीवन है। जो लोका है जो लोका है जो माधवा है, जो बला है। साधु आधुत क्या है तो क्या विद्यापन्था मे जो आधुत रहे। जब अनेका हो लक्ष भी आधुत रहे, जब एक के बीच मे हो लक्ष भी माधवा रहे। मकर मे ही या कम मे ही यह चर्यम् आधुत अथवा मे कभी माधवान हीकर रहे, बाकी से अपनी आत्मा को बचाता रहे। आधुत मे अपने जीवन को दूर रखे नहीं कभी कभी माधवा है।

बाल्य हृद फिर मे। उनी नीमिक अथ वर विचार करते है कि आधुत मे आधुत माध भी यदि नहीं प्रचारक हो माध नीम बहरी या माध और अपनी बहरी या माध कि यह माधुनी माधवा से कठ न हने तो माधवाय या बहा क्या चर्यम् है। क्या

जब गदा हो कर आता है, तो माता उसे स्नान कराती है, उसके वस्त्र साफ करती है। परन्तु ऐसा करते समय वच्चा चिल्लाता है, रोता है, हल्ला मचाना है, क्योंकि ठड़े-ठड़े पानी से उसे तकलीफ होती है। परन्तु जो कुछ भी किया जा रहा है, उसके सबब में माता के हृदय से पूछिये कि उसके मानस में वात्सल्य की भावना है या बस वच्चे को कष्ट देने की भावना है? निश्चय ही उसके हृदय में वात्सल्य, प्रेम और अनुराग की भावना तरंगित होती रहती है। इसी प्रकार आचार्य का रथान भी माता-पिता के समान है। जब वह अपने शिष्यों को दंडित करता है या उन्हें कड़े शब्दों में उपदेश देता है या उनको दोषों से मुक्त होने के लिए कठिन तपस्या में झोंकता है, तब उसके अन्तर हृदय में उस शिष्य के विकास की और उसके कल्याण की कोमल प्रेरणा काम करती रहती है। गुरु चाहता है कि मेरा शिष्य सबथा निर्दोष होकर अपनी आत्मा को मोह-माया के बधनों से मुक्त करे। वह कभी भी साधना के मार्ग से विचलित न हो। वह अपने जीवन-मघर्ष में कभी भी असफल न रहे। इस ऊँची भावना से ही आचार्य अपने शिष्यों का निग्रह करते हैं। कठोरता में भी करुणा का स्रोत बहता रहता है।

इस पृष्ठभूमि में सोचने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि अनुग्रह की तरह ही निग्रह भी अहिंसा का ही एक रूप है। यदि केवल अनुग्रह और करुणा ही अहिंसा का रूप होता, तो मानव मन की जो अवोधावस्था है, वह कभी भी दूर नहीं होती। चोर को चोरी छोड़ने के लिए कहा जाय तो उसके मन में दुःख होता है, शराबी को शराब छोड़ने के लिए कहा जाय तो उसका हृदय भी परेशान हो उठता है। तब क्या गुरु का यह कनव्य है कि वह चोर को और अधिक चोरी करने के लिए प्रोत्साहित करें? शराबी को और अधिक शराब पीने के लिए सहारा दें ?

आत्मरक्षण



एक प्रश्न और चिन्तन के लिए यहाँ उपस्थित कर देता हूँ : एक ऐसा व्यक्ति जो पूर्वतः अहिंसा की शायना करना चाहता है लेकिन वह अहिंसा या शांति होने के साथ-साथ सम्भाविकाएँ भी है और उसके सामने किसी बाहरी आक्रमण का प्रश्न खड़ा हो जाता है। उसके चेहरे पर कोई आभायायी विशेषी आक्रमण कर बैठते हैं। ऐसी परिस्थिति में वह अहिंसक राजा क्या करना करे ? आक्रमण-कारी शत्रु के साथ व्यवहार का राज है। आक्रमण के रूप में वह देश को लूटता है और प्रजा को पीड़ित करता है। संस्कृति और सम्पत्ति को नष्ट करता है। जो-वहनों की हत्या करता है और तारे जीवन को लूट-लूट करता है। अब अहिंसक राजा जिसके कर्णों पर प्रजा की रक्षा का उत्तरदायित्व है, क्या करे ? अपना वह स्वयं क्या नष्ट होना चाहिए ? वह राष्ट्र की सुरक्षा के लिए वह आक्रमण का मुकाबला करे या नहीं ? एक तरफ उसे आक्रमण करने वाली शक्ति के साथ जीवनस युद्ध करना पड़ता है और दूसरी तरफ स्वदेश की आत्मा निरीह जनता की आत्मात्मक के चरमों के आत्म-व्यवस्था करना पड़ता है, सम्मान के सामने फिर मुकाबला पड़ता है। ऐसी परिस्थिति में क्या वह अहिंसा ॥ ? क्या वह कमजोरता नहीं है ? बुद्धिहीन और वर्तुलकता या प्रमाण नहीं है ? जिस प्रकार स्वयं सम्मान करना चाह है उसी प्रकार सम्मान को बरखास्त करना चाहते भी कहा जाय है। जो सम्मान बरखास्त कर सकता है वह स्वयं भी किसी दिन सम्मानी नहीं बन बैठेगा इसकी क्या आशा ? अब अहिंसक राजा को स्वयं किसी पर आक्रमण नहीं करना चाहिए। किसी लूटने विशेषी द्वारा आक्रमण करने पर भी उस के प्रति उपस्थित बाधाप्रमाण को लेकर अपने मन में द्वेष नहीं

लाना चाहिए। कुछ भी हो, उस विदेशी को मुझे मार ही डालना है या उसके देश पर भी मुझे कब्जा कर लेना है, ऐसी भावना नहीं होनी चाहिए। किन्तु उसके आक्रमण का मुकाबला तो करना ही पड़ेगा। यदि प्रतिरोध करने वाले के हृदय में अपना साम्राज्य बढ़ाने की भावना हो, तो वह भावना हिंसामूलक है। लेकिन केवल 'अपने देश की आजादी को सुरक्षित रखने का विचार है, और उस आजादी के लिए यदि उसे लड़ना भी पड़े, तो लड़ाई करना उसका राष्ट्रीय कर्तव्य है। यदि राष्ट्र की सुरक्षा के लिए युद्ध के बजाय अन्य शांतिपूर्ण उपायो से कोई मार्ग निकाला जा सके, तो वह सर्वोत्तम है। पर यदि वक्त पड़ने पर अहिंसा का नाम लेकर मैदान से भागने वाला तो कायर ही है।

हिंसा के प्रकार



हिंसा चार प्रकार की होती है। १ सकलपी, २ आरम्भी, ३ उद्योगी और ४ विरोधी। जानबूझकर मारने का इरादा करके किसी निरपराध व्यक्ति या राष्ट्र पर आक्रमण करना या किसी को मारना, सकलपी हिंसा है। खान-पान, रहन-सहन, घर-गृहस्थी इत्यादि काम-धर्मों में जो हिंसा हो जाती है, वह आरम्भी हिंसा है। खेती-बाड़ी, व्यापार-उद्योग करते हुए जो हिंसा होती है, वह उद्योगी हिंसा है और जो शत्रु का आक्रमण होने पर देश को विनाश से बचाने के लिए तथा अन्याय का प्रतिकार करने के लिए, आजादी की सुरक्षा और राष्ट्र की शांति के लिए जो युद्ध किया जाता है वह विरोधी हिंसा है। इन चार प्रकार की हिंसाओं में से यदि पहले प्रकार की हिंसा का परित्याग सारा समाज कर सके, तो सारी

प्रकरण



एक श्रम और चिन्तन के बिना वही उपस्थित कर देता है । एक ऐसा व्यक्ति जो पूर्वतः अहिंसा की शायना करना चाहता है लेकिन वह अहिंसा का साधक होने के साथ-साथ सम्भावितता भी ॥ और उसके सामने किसी आत्मन का श्रम बढ़ा हो जाता है । उसके देश पर कोई सम्भावित विदेशी आक्रमण कर बैठे है । ऐसी परिस्थिति से वह अहिंसक राजा क्या करना करे ? आक्रमणकारी देश के साथ बढ़कर आ रहा है । आक्रमण के रूप में वह देश को खूदता है और प्रजा को पीड़ित करता है । संस्कृति और सम्पत्ति को नष्ट करता है । जो-वस्तु भी हथगत होता है और तारे जीवन को लुप्त-मल्ट करता है । वह अहिंसक राजा चित्त के चमों पर प्रजा की रक्षा का उत्तरदायित्व है, क्या करे ? उसका वह समय क्या सर्वस्व होना चाहिए ? वह राष्ट्र की सुरक्षा के बिना वह आक्रमण का मुकाबला करे या नहीं ? एक तरह से आक्रमण करने वाली और के साथ जीवन बुरा करना पड़ता ॥ और दूसरी तरह स्वदेश की जानों निरीह जनता को आक्रमण के चरमों से बाल्य-समर्पण करना पड़ता है । सम्भव के सामने फिर चुनाव पड़ता है । ऐसी परिस्थिति में क्या व करना अहिंसा है ? क्या वह वाशरदा नहीं है ? मुजबिबी और गर्वुलकता का प्रभाव नहीं है ? जिस प्रकार स्वयं सम्भाव्य करना पाव है । उसी प्रकार सम्भाव्य को बरदास्त करना चाहने भी बड़ा पाव है । जो सम्भाव्य बरदास्त कर सकता है, वह स्वयं भी किसी दिन सम्भाव्य वही बन बैठेगा इसकी क्या गारंटी ? वह अहिंसक राजा को स्वयं किसी पर आक्रमण नहीं करना चाहिए । किसी दुसरे विदेशी आक्रमण आक्रमण करने पर भी वह के प्रति व्यक्तिगत आत्मनयन को लेकर अपने मन में द्वेष नहीं

सारे आरोप और आक्षेप झूठे साबित होंगे । स्वयं अहिंसा का पालन करनेवालों ने भी अहिंसा को समझने में भयंकर भूल की है ।

वीरो का धर्म



अहिंसा का अर्थ यह नहीं है कि हम सिर पर दोनों हाथ रखकर घर का दरवाजा बन्द करें और अन्दर छुपकर बैठ जाए । अहिंसा में जीवन की कोई निष्क्रिय एवं अभावात्मक स्थिति नहीं है । अहिंसा में जोश होता है, मधप होता है, प्रतिकार होता है । जो अहिंसा निष्प्राण है, निस्तेज है, जिसमें अन्याय के साथ मुकाबला करने की शक्ति नहीं है, जो सधप नहीं कर सकती, जो अपनी आजादी को सुरक्षित नहीं रख सकती, जो मनुष्य को या राष्ट्र को गुलाम बना देती है, वह अहिंसा है ही नहीं । अगर कुछ लोग अहिंसा के नाम पर ऐसा करते हैं तो वह निकम्मी और निरर्थक अहिंसा है । महात्मा गांधी ने आजादी प्राप्त करने के लिए हिंसा के रास्ते को गलत समझा । लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि वे घर में जाकर बैठ गये । हम सब यह अच्छी तरह से जानते हैं और इतिहास इस बात का साक्षी है कि महात्मा गांधी ने अहिंसा के रास्ते से अंग्रेजों को हिन्दुस्तान की आजादी देने के लिए मजबूर कर दिया । उन्होंने अंग्रेजों के साथ मुकाबला किया । गुलामी का प्रतिकार करने के उपाय किये । उपवास किया, असहयोग किया, सत्याग्रह किया, सविनय अवज्ञा की और अहिंसा के रास्ते से देश को आजादी दिलायी । यह एक उदाहरण उन सब आक्षेपों का सचोट उत्तर है जो यह कहते हैं कि अहिंसा पगु है या निष्क्रिय है । महाश्रमण महावीर ने भी और तथागत बुद्ध ने भी अहिंसा के रास्ते से समाज में क्रांति लाने का प्रयत्न किया था । चारों ओर जातिवाद का नशा छाया हुआ था, सामाजिक रूढ़ियों और अन्ध-

अपराधों का हल बहुत सरलता से ही बनता है। जैन धर्म ने अपने अनुयायी भावकों के लिए इसी सफलता हिंसा को छोड़ने का मार्ग दिखा है। भारते की भाषना से किसी निरवस्था की हिंसा करना साम्राज्य की भिन्ना से किसी पर आक्रमण करना आर्थिक ढीठ से किसी को मारना बनी बनने की आकांक्षा से किसी का शोषण करना आदि धार्मिक सार्वभौमिक हिंसा के अन्तर्गत आती हैं।

जीवन-निर्वाह के लिए हर व्यक्ति को अपने आवश्यकता का काम बना तो करना ही पड़ता है। इस प्रकार के काम-धंधे से आरजी हिंसा का ही आधा सहज-सम्भव है। किन्तु उपर्युक्त के लिए ही जानेबाकी इस हिंसा को सहज छोड़ देना संभव नहीं। इसी प्रकार व्यापार, उद्योग और छोटी इलाक़ों में होने वाली उद्योग सम्बन्धी हिंसा को भी टल सकना असंभव है। विशेषी हिंसा को भी नहीं छोड़ा जा सकता क्योंकि अनुपम की विरह धर्मों से अपनी अपन धर्म की और अपने समाज की समुचित रक्षा का प्रयत्न करना ही पड़ता है।

एस्किन के भी परिचय का एक बड़ा शारीरिक का एक पुस्तक किसी है जिसका हिन्दी अनुवाद महात्मा गांधी के 'सर्वोदय' के नाम से किया है। एस्किन कहता है कि हिंसाही का अर्थ यह है कि वह स्वयं किसी को मारने से बचे, किन्तु इस की आजादी को सुरक्षित रखने के लिए यदि उसे किसी को मारना पड़े और स्वयं को भी मर जाना पड़े तो वह आवश्यक है। क्योंकि बहुत करना, मारना या मरना बड़ा दुःख नहीं है, बल्कि वह हिंसाही का प्रभाव असह्य तो अपने देश की आजादी को सुरक्षित रखना है। कुछ लोग कहते हैं कि अहिंसा नष्ट होती है। अहिंसा नामों का धर्म है। अहिंसा से देश को मुक्ति मिलेगा। परन्तु अहिंसा के अन्तर्गत दुष्टीकृत को यदि हम समझने का प्रयत्न करें तो वे

सारे आरोप और आक्षेप झूठे साबित होंगे । स्वयं अहिंसा का पालन करनेवालों ने भी अहिंसा को समझने में भयंकर भूल की है ।

वीरो का धर्म



अहिंसा का अर्थ यह नहीं है कि हम सिर पर दोनों हाथ रखकर घर का दरवाजा बन्द करें और अन्दर छुपकर बैठ जाए । अहिंसा में जीवन की कोई निष्क्रिय एवं अभावात्मक स्थिति नहीं है । अहिंसा में जोश होता है, सघर्ष होता है, प्रतिकार होता है । जो अहिंसा निष्प्राण है, निस्तेज है, जिसमें अन्याय के साथ मुकाबला करने की शक्ति नहीं है, जो सघर्ष नहीं कर सकती, जो अपनी आजादी को सुरक्षित नहीं रख सकती, जो मनुष्य को या राष्ट्र को गुलाम बना देती है, वह अहिंसा है ही नहीं । अगर कुछ लोग अहिंसा के नाम पर ऐसा करने हैं तो वह निकम्मी और निरर्थक अहिंसा है । महात्मा गांधी ने आजादी प्राप्त करने के लिए हिंसा के रास्ते को गलत समझा । लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि वे घर में जाकर बैठ गये । हम सब यह अच्छी तरह से जानते हैं और इतिहास इस बात का साक्ष्य है कि महात्मा गांधी ने अहिंसा के रास्ते में अंग्रेजों को हिन्दुस्तान की आजादी देने के लिए मजबूर कर दिया । उन्होंने अंग्रेजों के साथ मुकाबला किया । गुलामी का प्रतिकार करने के उपाय किये । उपवास किया, असहयोग किया, सत्याग्रह किया, सविनय अवज्ञा की और अहिंसा के रास्ते से देश को आजादी दिलायी । यह एक उदाहरण उन सब आक्षेपों का सचोट उत्तर है जो यह कहते हैं कि अहिंसा पशु है या निष्क्रिय है । महाश्रमण महावीर ने भी और तथागत बुद्ध ने भी अहिंसा के रास्ते से समाज में शान्ति लाने का प्रयत्न किया था । चारों ओर जातिवाद का नशा छाया हुआ था, सामाजिक रूढ़ियों और अन्ध-

विचारों ने मानव को बन्धा कर दिया था यह और वहि भी प्रचारों ने मानव-जाति को सहस्र-वहस्र कर दिया था कुलामी और दास-मर्दा की बेकिया ब्राम्ह के पैरों को बाँधे हुए थी प्रवृत्ति बदल चुकी थी । उस समय जबनाह महावीर और मीतम बुद्ध ने जाति की प्रवृत्ति बदली । ब्राम्ह से उन कु-बचारों को समाप्त करने का आन्दोलन हुआ और वे अपने मिशन में बहुत दूर तक चले गये । किन्तु उन्होंने हिंसा का सहारा नहीं लिया । दोनों ही महापुरुष अहिंस के । वे 'उन्मादिकाएँ' थीं वे । उनके पास ऐसी शक्ति थी कि वे पक्षों से ऐसा संश्लिष्ट कर सकते थे । आत्म-विश्वास और कष्टिचार का प्रचार करने वालों को बन्धी बना सकते थे किन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया । उन्होंने कानून का राज्य का या देना का बहाण नहीं लिया । वे मन-मन को बाधित करने के लिए दाँव-बाँव नुमे । जनता को ब्रह्मसा । जनता के दिव को बदला विचारों में परिवर्तन किया, घर-घर में अपना उपदेश पहुँचाया अपने विचारों को सेवा और बाहिर उन्होंने आभाषिक जाति की प्रवृत्ति को बहाकर प्रवृत्ति का नया मान-वन्द कावम किया । वे उन लोगों से कुछना चाहता हूँ जो अहिंसा को कावस्था का प्रतीक बताते हैं । क्या महावीर, बुद्ध कावर थे ? नहीं वे कोन कावर नहीं थे वे इनकी अहिंसा कावर थी; अहिंसा कावर थे ही जो अहिंसा का बहाण बनाकर अपने दावों को रखा करवा चाहते हैं । कीम कहता है कि किसी को मारना महापुरुष का काम है ? किसी को मारने के कीम की महापुरुष हैं ? महापुरुष तो हैं स्वयं भर-बाले में । अपने दावों का मोह बना बर्बकर होता है । कोई भी मारपी नरका नहीं चाहता । बुद्ध बीमार और बर्बर मारपी की बाधिका हम तक यह प्रवृत्ति करता है कि उसे ऐसी कोई रवा निव बाय मिले कि वह कुछ विन और भी लके । कैसा विविध मोह होता हूँ । अपने दावों का । ऐसी विविध के यह अहिंसा का प्रचारक अपने मारपी बहिचार कर देता है या एहीर ही जाता है तो क्या बडे कावरता

कहा जाय ? क्या उसे अहिंसा का पगुपन कहा जाय ? नहीं, यह तो वीरता की अहिंसा है। अहिंसा वीरो का धर्म है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

ऊपर में अहिंसात्मक प्रतिकार के उदाहरण हैं। यह जीवन का सर्वोच्च आदर्श है। परन्तु अन्याय के प्रतिकार का जब कोई अहिंसात्मक प्रतिकार सम्भव न हो, या इसकी तैयारी न हो तो अहिंसा के आदर्श की छाया में कायरता को प्रथम नहीं दिया जा सकता। सामाजिक जीवन में अन्याय का प्रतिकार आवश्यक है। इसके लिए भारतीय इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण उदाहरण आपके सामने रख रहा हूँ। रावण सीता का अपहरण करके ले गया। राम को यह मालूम हुआ कि सीता रावण के शिकर में फँसी हुई है। वहाँ एक सीता नहीं, न जाने कितने प्राणी भूक भाव से उस उच्छ्वसल शासक की गुलामी की चक्की में पीये जा रहे थे। एक तरफ सीता की रक्षा का प्रश्न था और दूसरी तरफ रावण के साथ युद्ध करके हजारों मनुष्यों के महार का प्रश्न था। उस समय सीता को बचाने के लिए और मनुष्य जाति को भयकर गुलामी से मुक्त करने के लिए राम ने युद्ध करने का निर्णय किया। वे मर्यादा पुरुषोत्तम राम, जो भारतीय सस्कृति के उज्ज्वल प्रतीक हैं, युद्ध करने के लिए निकले। यदि उन्हें युद्ध में केवल हिंसा की बू आती और अहिंसा के भविष्य का कोई प्रश्न न होता तो क्या वे युद्ध के लिए तैयार होते ? (लेकिन अन्याय को बरदास्त करना पाप है, अपने में यह स्वयं भी एक महा हिंसा है, इस आदर्श ने उन्हें युद्ध के लिए प्रेरित किया और वे मैदान में उतरे। हालांकि युद्ध करना राम का उद्देश्य नहीं था। वे युद्ध को टालना चाहते थे। हर सम्भव उपाय से उन्होंने युद्ध को टालने का प्रयत्न भी किया। लेकिन जब दूसरे सभी रास्ते बन्द हो गये और केवल युद्ध का मार्ग ही शेष रहा, तब उन्होंने अहिंसा का बहाना लेकर अपने मुँह को छुपाया नहीं। उन्होंने रावण से बार-बार कहलवाया कि न तो मुझे

दुम्मी जाहीद, न मुम्बर कजनाई, न सोने की जंभा न मुम्हार नमर
 बन मुने केवन लीना चाहिए । ये लीता भी मुक्ति जो केवल विषय
 विषय के लिए नहीं किन्तु सर्वव्यवस्था के लिए, अन्धकार के प्रतिहार
 के लिए चाहता है । मुझे मुझे कोई डर नहीं है मुझ नहीं है मैं
 मुझे नहीं मुम्हारे अन्धकार के मुझ नरका है । मुझ एक राजा हो,
 राजा हो अन्धकार के प्रतिहार के लिए ही सिद्धान्त पर बैठे हो ।
 यदि मुझ स्वयं ही अन्धकार अन्धकार करने लगे तो फिर प्रजा को स्वाय
 क्त्य दियेगा ? किन्तु एक ही यह बात यह स्वीकार नहीं हुई सभी
 के अन्धकार की दण्ड देने के लिए एक में अन्धकार करने लगे । मुझ
 में हिंसा अवस्थ हुई । किन्तु एक हिंसा का अन्धकार एकदम न
 किया है ।

हृदय का आदर्श

★

जैन धर्म के अहिंसा विषयक उत्पन्न का स्पष्ट निर्देश है कि
 जो अन्धारी हो, जो अन्धकारी हो, जो अन्धकार का शोही हो उसे यथो
 चित्त दण्ड दिखाना ही चाहिए । परन्तु एक अवसर पर भी अहिंसा की
 आज्ञा करने वाले को अन्धकार के साथ वैयक्तिक नहीं रहना चाहिए ।
 अन्धकार के प्रति हमारे मन में किसी प्रकार की मुझ नहीं होनी
 चाहिए । ईर्ष्या नहीं होनी चाहिए । मुझ सोची के नहीं सोचों के होनी
 चाहिए । नहीं अन्धकार हृदय के जीवन में भी प्राप्त होता है ।
 महाभारत का कुछ हृदय की प्रेरणा के ही हुआ । यदि हृदय ने अन्धकार
 की अवस्था पाइयों की बीच न दिया होता तो वापस मुझ न होता ।
 किन्तु उनके सामने भी अन्धकार की दण्ड देने का ही अन्धकार का ।
 अन्धकार की दण्ड मुझ को आत्मने के लिए अपनेको डार दण्ड दिया ।
 स्वयं ही अन्धकार की दण्डोंचन की अन्धकार में मुक्ति । और तो क्या केवल

पांच गांव तक पर समझौता कर लेना चाहा । परन्तु वैसा कुछ भी सम्भव नहीं हो सका । आगे चलकर ठीक युद्ध के मोर्चे पर अर्जुन न जब हथियार डाल दिये और कौरवों के साथ लड़ने से इन्कार कर दिया, तब श्रीकृष्ण ने हिंसा और अहिंसा सम्बन्धी द्वन्द्व में से युद्ध का ऐसा आदर्श शास्त्र उपस्थित किया, जिसे सुनकर अर्जुन को ज्ञान मिला । उसने अहिंसा की वास्तविकता को समझा और आखिर वह युद्ध के लिए तैयार हुआ ।

सारी भारतीय सस्कृति इस तरह के उदाहरणों से भरी पड़ी है । इसलिए उसके बहुत विस्तार में जाने की जरूरत नहीं है । सीधा-सा प्रश्न है कि अहिंसा की साधना परिस्थिति, समाज, व्यक्ति और उसके विवेक का सतुलित स्वरूप है । यदि इनमें कहीं पारस्परिक सतुलन नहीं रहेगा, तो अहिंसा की साधना बिगड़ जाएगी ।

हम अनुग्रह और निग्रह के प्रश्न को लेकर चले थे और यह प्रश्न उपस्थित हुआ था कि क्या केवल अनुग्रह ही अहिंसा है या निग्रह में भी अहिंसा है ? उपरोक्त विवेचन के बाद यह विषय काफी स्पष्ट हो जाता है ।

अहिंसा का मानदण्ड

जीव जगत् प्रकार के होते हैं। एक इन्द्रिय वाले हो इन्द्रिय वाले तीन इन्द्रिय वाले चार इन्द्रिय वाले और पांच इन्द्रिय वाले। उक्त जीवों में कोई एक घटीरवाला प्राणी है, छट है या बहुपाय वाला है तथा कोई सुक्ष्म घटीर वाला जन्तु बचवा बीड़ा है। कुछ प्राणी ऐसे भी हैं, जो इन से भी सूक्ष्म हैं वे सूक्ष्म बक बलि गधु और वनस्पति के घटीर में निवास करते हैं। इन सभी जीवों के घटीर की बनावट में अंतर होता है। किन्तु सभी जीवों के अग्रमा उपायकन के होती है।) प्राणिक इन्द्रियों के निवास के अनुसार उनके घटीर में और हिंसा के प्रकार में बहुत अन्तर होता है। उक्त अन्तर है कि किन प्राणी की हिंसा में ज्यादा पाप है और किन प्राणी की हिंसा में कम पाप है। हिंसा करते समय हिंसक की मनस्थिति भी एक रूप की नहीं होती है। किन्ती के मन्त्र करने में हिंसा की भावना बहुत कम होती है और किन्ती के हृदय में बड़ी भावना भुक्त सम्मन होती है या कम होती है।

इस प्रकार हिंसक और हिंसक की अनेक भूमिकाएँ हैं। इन दोनों के बीच के हिंसा की निम्नलिखित होती है। यदि जीवम में होने वाली सबसे हिंसाएँ एक ही जेनी की होती हों तब तो तब जमी या जमी और मात का जमी भी एक ही जेनी में होता चाहिए या। जल्द ऐसा नहीं है। यदि ऐसा नहीं है और हिंसा के यदि किन्ती प्रकार का उत्पन्न है, तब कोई हिंसा नहीं है और

कोई हिंसा छोटी है तो इस भेद का आधार क्या है, यह जिज्ञासा प्रायः हृदय में उठती है। क्या मरने वाले जीवों की सख्या के आधार पर हिंसा का मानदण्ड कायम किया जाय, अथवा जीवों के शरीर की स्थूलता एवं सूक्ष्मता पर हिंसा की न्यूनाधिकता अवलम्बित है? अथवा हिंसक की मनोवृत्ति में जो तीव्रता और मदता होती है, उस पर हिंसा की न्यूनाधिकता का मानदण्ड आधारित है ? ।

तारतम्य

कुछ लोगो का कहना है कि पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति के जीव भी तो जीव ही हैं। उनमें भी प्राण हैं और उनको भी जीने का हक है। वे बेचारे भी जीना चाहते हैं, किन्तु मूक होने के कारण अपनी इच्छा को अभिव्यक्त नहीं कर सकते। शायद इसी-लिए आपकी आंखों में उनका मूल्य कम है। दो इन्द्रिय वाले जीवों से लेकर पाँच इन्द्रियवाले जीवों तक जितने भी बड़े-बड़े प्राणी हैं, क्या केवल उन्हीं की जिंदगी का मूल्य है? यह प्रश्न कई बार अहिंसा के साधकों के सामने आता है और उन्हें उलझन में डाल देता है। परन्तु गहराई से विचार करने पर स्पष्ट प्रतीत होता है कि हिंसा इन सब बाहरी बातों पर आधारित नहीं हो सकती। जहाँ जीव ज्यादा मरेंगे, वहाँ ज्यादा हिंसा होगी और जहाँ जीव कम मरेंगे वहाँ कम हिंसा होगी, ऐसी मान्यता ठीक नहीं लगती। हम जीवों की गिनती में उलझ जाते हैं और मानवीय भावना के उतार-चढ़ाव को भूल जाते हैं। एक आदमी भूखा-प्यासा दरवाजे पर पड़ा है। वह छटपटा रहा है। यदि उस समय उसको पानी पिला दिया जाय तो उसके प्राण बच सकते हैं। किन्तु यदि वहाँ कोई हिंसा की तरतमता का प्रश्न खड़ा करे और कहे कि एक तरफ पानी पिलाने से केवल एक जीव

बचता है और दूसरी तरफ सब पानी के अंतर्भव बीच भर जाते हैं। इस प्रकार क्या केवल एक बीच और मारे पड़े अंतर्भव बीच। ऐसी स्थिति में सब छटपटाते हुए इन्सान को पानी पिनामा बर्ष और पुनर् कहे जाना आदेवा ? वह तो वही बात हुई कि एक हमर्ष की रक्षा के लिए अंतर्भव असमर्ष की मार दिया गया।

बाद वही चुपचे बाकी जवही है और एक बार इस तरह को चुपने के दिया सब छट-बा हो जाता है। किन्तु यदि मानवीय व्यवहारों के बहार-बहार का अनुपात करें और बुद्धि की रचना का भी आचार है सब पर विचार करें तो निश्चय ही इस तरह में मानुषता का अभाव ही प्रतीत होती। वास्तव में अहिंसा का सम्मान बीरों की विमती करने के नहीं है। बल्कि के बाहरी पक्ष के हिंसा और अहिंसा को भाषा नहीं का सकता। एक ओर बाधना है, दूसरी ओर सत्ता है। एक ओर अंतर्बुद्धि है तो दूसरी ओर बाह्य बुद्धि है।

प्राचीन काळ में इतिहासकार नाम के ओर उपस्वी होते के भी वही कठिन उपस्था करते थे। जब आहार करने का समय जाता तब के सोचने के कि यदि इस एक-मूल कार्यके तो सर्वेक और मारे जाये। इसलिए कबो न किसी एक ही अनुकूल बीच को मार बिना बाध किसे हम भी कार्य और दूसरों की भी बिकारों। तब ही हिंसा की माना भी कम ही। यह सोचकर के अंतर्भव में जाते के और एक हावी मार जाते थे। फिर कई दिन तक सब मृत हस्त-बरीर को सुनिचा पूर्वक जाते रहते थे। जनका नाम इस बात के बड़ा संकट होता था कि उन्होंने अंतर्भव बीरों के प्राचीन की रक्षा का बहादुर्य कहावा है और केवल एक बीच की मारने का पाप बिना है।

परन्तु जनमान महावीर ने कहा है कि जनका ऐसा समझना न केवल अवगुर्ष है, बल्कि बल्ल और अनुचित भी है। जनमान महा-

वीर ने अपने विचार को स्पष्ट करते हुए कहा कि वनस्पति जगत के एक इन्द्रिय वाले जीव की हिंसा में भावों की तीव्रता प्रायः कम होती है। उग्र समय में उग्र घृणा और वीर्यस द्वेष का भाव पैदा नहीं होता। परन्तु हाथी जैसे विशालकाय पाच इन्द्रिय वाले जीव को जब मारा जाता है तो अन्तःकरण में एक प्रकार की हलचल-सी मच जाती है। उसे मारने के लिए घेरा डालना पड़ता है, उसके साथ सघर्ष करना पड़ता है। उसके लिए नाना प्रकार के दांव-पेंच करने पड़ते हैं। इस सारी प्रक्रिया में हृदय की भावनाएँ दूषित और मलिन हो जाती हैं। एक इन्द्रिय वाले जीवों की हिंसा के समय इस तरह की तीव्रता नहीं होती। ज्यों-ज्यों भावों की तीव्रता बढ़ती चली जाती है, त्यो-त्यो हिंसा की तीव्रता भी बढ़ती जाती है। इसलिए एक इन्द्रिय वाले जीवों की अपेक्षा दो, तीन, चार और पाच इन्द्रिय वाले जीवों की हिंसा में उग्रता, तीव्रता, घृणा, द्वेष आदि बढ़ने के कारण हिंसा भी बढ़ती जाती है।

मान लीजिए कि एक साधु किसी गृहस्थ के घर भोजन में गया। गृहस्थ के घर में एक तरफ उबला हुआ साग रखा है और दूसरी तरफ उबली हुई मछली रखी है। दोनों ही चीजें पकी हुई हो से निष्प्राण हैं। इस समय दोनों में चैतन्य और और जड़ की दृष्टि से कोई भेद नहीं है, परन्तु साधु इन दोनों में से कौनसी चीज को ग्रहण करेगा? जो सब जीवों को बराबर मानकर चलता है, उसके लिए उबली हुई ककड़ी और उबली हुई मछली में कोई अन्तर नहीं होना चाहिए। उसके मतानुसार तो जैसी पीड़ा एक इन्द्रिय वाले जीव को हुई थी, वैसी ही पीड़ा पाच इन्द्रिय वाले जीव को भी हुई थी। परन्तु फिर भी वह साधु मछली को छोड़कर ककड़ी को स्वीकार करता है। आखिर क्यों? क्योंकि उसके पीछे एक तरह की नृशंसता और निर्ममता का अभाव काम करता रहता है।

माल जीबिए एक मादमी कह्यो है कि मै रोब मांठ बी बाठा हूं और साध-सम्मी बी बाठा हूं । इन बीनों मे से किसी एक बीन की छोड़ना चाह्यो हूं । चाहे तो मांठ की छोड़ दूं, वा चाहे तो साध-सम्मी की छोड़ दूं । ऐसी स्थिति मे उस व्यक्ति को सल्लाह मार्ग बतलाया चाहिए ? जो इस विद्वान्त को लेकर चलता है कि अधिक बीन मरने से अधिक हिंसा होती है तो क्या वह उस व्यक्ति को ऐसी सल्लाह देया कि तुम साध-सम्मी काणा छोड़ दो और मांठ का ठेकन करो; क्योंकि साध-सम्मी से असह्य और अनंत बीन होते हैं, जबकि मांठ ठेकार करने के लिए किसी एक ही बीन की हिंसा करनी पड़ती है ? वहां पर क्या बीनो की पिनती का हिंसाह कमाना डीक होना ? क्या कलम बचवा पर हिंसा की म्नुनाधिकता के लिए कोई मानदंड वा कसीटी बनायी जा सकती है ?

हिंसा मे जो ताण्डव्य होता है, वह मनुष्य की भावना पर आधारित है । वह हमने पहले भी कई बार बतलाया है, वहां मोन मोन झुंकार इत्यादि कलुषित भावनाओ की तीव्रता कम होती है । वहां हिंसा भी कम होती है । जब हम कसीटी पर हम अपने विद्वान्तों को करते-ते उस वह सहज समझ मे जा बसेवा कि किसी एक इन्द्रिय बाने बीन की मारने से बिलगी हिंसा होती है । कबसे नहीं अधिक पांच इन्द्रिय बाने बीन की मारने में वा कष्ट होने से हिंसा होती है । यदि ऐसा न माना जाय तो हिंसा और अहिंसा की सारी व्याख्या बहुत अपूर्ण और एकायी बन जावगी ।

हमार प्रत्येक बर्न पड़ीली से चालू होता है । महात्मा गांधी ने पड़ीली बर्न और स्वदेश बर्न वा अहिंसा के साथ बहुत बड़ा सम्बन्ध बनाया है । यदि हम अपनी पड़ीली के दुःख से इतिर नहीं हो सकत तो ह्मापी अहिंसा वा कोई बर्न नहीं रह्यो । मनुष्य मनुष्य के

साथ कैसा वर्ताव रखे, यह उनके सामने सबसे पहला और सबसे बड़ा महत्वपूर्ण सवाल है। हमारी अहिंसा का परीक्षण सबसे पहले मनुष्य पर ही होता चाहिए। हम अपनी अहिंसा का प्रयोग मनुष्य पर न करके जीव-जंतुओं अथवा वनस्पति अथवा पानी पर करेंगे तो वह निहायत उपहामास्पद अहिंसा साबित होगी। हम कीड़ो-मकोड़ो की रक्षा के लिए तत्परता दिखाते हैं, हम चींटियों के बिलों पर चीनी डालते हैं, हम कबूतरों के लिए दाने फेंकते हैं और जो अपने निकट हैं, जो अपने दुकान में मुनीम-गुमास्ते हैं, अपने आफिस में जो क्लर्क-चपरासी हैं, अपने कारखानों में जो श्रमिक-मजदूर हैं, उनके साथ प्रेम का, सहानुभूति का तथा करुणा का व्यवहार नहीं करते तो वह अहिंसा नितान्त एकांगी और अपग ही रहने वाली है। मैंने देखा है कि अनेक सेठ अपने मजदूरों के साथ ऐसा घृणित और निमम व्यवहार करते हैं, जिसे देखकर दातो तले अगुली दवानी पड़ती है। वे रोज अहिंसा का व्याख्यान सुनते हैं, अहिंसा की किताबें पढ़ते हैं, अहिंसा पर व्याख्यान भी देते हैं और अहिंसा की स्थापना के लिए अथवा अहिंसा के प्रचार के लिए हजारों-लाखों रुपये खर्च भी करते हैं, परन्तु उनकी वह अहिंसा केवल किताबों में बंद पड़ी रहती है। उनकी वह अहिंसा केवल वाणी का विलासमात्र बन जाती है। उनकी वह अहिंसा केवल बौद्धिक कार्यक्रम का रूप धारण कर लेती है। उनके व्यवहार में, उनके घर में, उनके आफिस में, उनके कारखानों में, उस दिव्य अहिंसा का रूप प्रगट ही नहीं हो पाता। वे मजदूरों से छ घंटे के स्थान पर आठ घंटे, दस घंटे, बारह घंटे, काम लेने के लिए तत्पर रहते हैं। किन्तु उनका उचित पारिश्रमिक देते समय बड़े कठोर, अधीर और कृपण बन जाते हैं। उन मजदूरों की मेहनत में खुद तो लाखों रुपये कमाने की योजनाएं बनाते हैं, किन्तु लाखों रूपयों का मुनाफा होने के बाद भी उन मजदूरों के लिए वे किसी तरह की सुविधा का इत्तजाम नहीं करते। यह सब देखकर हृदय को बड़ा दुःख

होता है। वन में एक तराई की आगि पैदा होनी है और इस बात पर बड़ा अचरित होता है कि वनकी व अहिंसा की बात कहाँ बनी ? प्यास से छटपटाने हुए मनुष्य की बाबी पितापिता समय में सोचने हैं कि इनके अलक्ष्य जीवों की हिंसा हो जायेगी परन्तु जवन बार्द के समान को उनके चर्मचारी हैं, उनके साथ व्यवहार करते समय उनके हृदय में कोई क्या का आश पैदा नहीं होता। अब मैं यह सब देखता हूँ तो मुझे यह मानने के लिए बाध्य होता पड़ता है कि निश्चय ही अहिंसा का मानवद्वय जीवों की संख्या नहीं हो सकता बल्कि मनुष्य की आबना ही हो सकती है।

एक व्यक्ति जनसंख्या पर आक बकाता है और दूसरा किसी मनुष्य या पशु की मरहम पर झूठी बसाता है। जब वन्य करम की ही भावी बकाकर बुझता चढ़िए कि क्या दोनों समान बात के बाबी हैं ? क्या दोनों की हिंसा समान कोटि की है ? जो लोग एक इन्द्रिय और पांच इन्द्रिय वाले जीवों की हिंसा को समान ही मानते हैं क्या वे इस अवस्था प्रकृति को बचीपड़ा से सोचने का पट्ट करे ?

संक्षेप



अहिंसा और हिंसा का प्रचार केन्द्र व्यक्ति का यह संकल्प है जिस संकल्प के आधार पर सारे समाज का धाटी स्थिति का और सारे विषय का संचालन होता है। यदि वन संकल्पों में बहिष्कार है निम्नता है तरकता है तो कोई कारण नहीं कि व्यक्ति हिंसा का बाबीदार बने। जीवननवा के द्वारा हिंसा पूर्व अहिंसा को बाक्या बिन बर्न नहीं सिखाता। जवनान् बहावीर ने एक विचार-प्रवृत्ति का पिरोष किया है। हमारे जीवनबर्न में ही कुछ इस तरह के अधिकल्पना-

शाल चिन्तक हुए हैं, जिन्होंने इस प्रकार के विचार समाज को दिये जिससे कि लोगो मे जायो को गिनने की वृत्ति बढी और भावना का म्यान कम हुआ । परन्तु निश्चय ही यह घातक विचार-पद्धति है । इससे मानव-समाज की व्यवस्था टूट जायेगी । अहिंसा का व्यावहारिक रूप खडित हो जाएगा, सामाजिकता की रीढ टेढी हो जायेगी और मानव बहुत सकुचित विचारो मे फस जायेगा । |

हमने अहिंसा के मान-दण्ड को समझने के लिए यह एक ऐसा मुद्दा रखा है, जो बडे लम्बे समय से विचारकों के सामने विचार का विषय रहा है । विचार निरतर आगे बढ़ता रहता है । वह किसी युग के साथ या किसी ग्रथ के साथ या किसी व्यक्ति के साथ चिपकता नहीं । विचारो की खोज सत्य की खोज है । इसलिए वह खोज निरतर चलती ही रहनी चाहिए । जो लोग ऐसा समझते हैं कि विचारों की खोज अनावश्यक है या जो लोग ऐसा समझते हैं कि विचारो का विकास अपनी अतिम सीमा तक पहुच गया है, वे लोग भ्रम मे हैं, क्योंकि विचारों का चरमोत्कर्ष इसी में है कि वे निरतर नये-नये तथ्यों को ग्रहण करते रहें । यदि यह विकास, यह प्रगति अवरुद्ध हो जायेगी तो मानव-जाति के इतिहास में भयकर भूल होगी । मानव-समाज का विकास एक ऐतिहासिक देन है । मानव निरतर प्रगति करता आया है । उसने विचारों की नयी-नयी दीक्षाए लीं और अपने युग को उन विचारों के साथ जोड़कर सर्वांग-सुन्दर बनाया । विचारो की नयी खोज ने समाज को समृद्ध किया, विचारो की नयी खोज ने नये-नये ऋषि-महर्षि, सत और मनस्वी पैदा किये, विचारों की खोज ने समाज की कमियों को अथवा असगनियों को दूर किया । जो विचारों की खोज इतनी महत्त्वपूर्ण है, उसको हम रोक कैसे सकते हैं । इसी पृष्ठभूमि मे अहिंसा का विचार भी हमारे सामने आता है । हमे अहिंसा की दिशाओ मे नित्य-निरतर खोज करनी है । जिस तरह प्राकृतिक

जबसे मे अथवा नीतिक जगत् में विज्ञान ने नये-नये अनुसंधान किये नये-नये प्रयोग किये और नये नये आविष्कार किये उसी तरह अहिंसा के क्षेत्र में हमें नये-नये प्रयोग अनुसंधान और आविष्कार करके अहिंसा को सर्वोत्तम बनाया चाहिए। समाज में हिंसा का शासन किस तरह ॥ बीरे बीरे संकुचित होता गया था और अहिंसा का शासन बीरे-बीरे व्यापक होता गया था इसका रससा ॥ ॥ ॥ ॥ चाहिए। अगर हम ऐसा नहीं करेंगे तो जाने वाली पीढ़ी के साथ यह बहुत बड़ा अन्धकार होगा। जिन्होंने समाज से निवृत्ति लेकर अहिंसा की साधना में अपना जीवन लगाया है उनका यह उत्तरदायित्व है कि वे पूर्वकथित अहिंसा के अनुसंधान में अपने-आप को समर्पित करें। जिस तरह एक वैज्ञानिक अपनी प्रयोगशाला में किसी नवी चीज का अन्वेषण करने के लिए अपने सारे जीवन की संपत्ति देता है उसी तरह हमें भी एक वैज्ञानिक की तरह अहिंसा की प्रयोगशाला में अहिंसक जीवन के प्रयोगों और आविष्कारों के लिए अपने जीवन की संपत्ति देना है। अगर हम इसकी ज़रूरत नहीं तो वास्तव में हमें अहिंसा की साधना का अधिकार है क्योंकि अहिंसा के नाम पर हम आदर्श, विद्या और सम्पत्ति का सहाय नके ही हैं वास्तविक अहिंसा के द्वार तक नहीं पहुँचेंगे।



हिंसा की रीढ़



दो दृष्टियाँ हैं। एक अन्तर्दृष्टि, दूसरी बाह्य दृष्टि। दोनों दृष्टियाँ जीवन में समान मूल्य रखती हैं, लेकिन अन्तर्दृष्टि का महत्त्व नव ने अधिक है, जब कि आजकल उस अन्तर्दृष्टि को छोड़कर अधिकांश माधव बहिर्दृष्टि में ही उत्तरे हुए प्रतीत होते हैं। बाह्यी प्रिया-वाह, आचार-विचार, रहन-सहन इत्यादि जीवन में जो कुछ भी बाह्य के काम हैं, उन्हीं को प्रधानता दे दी गयी है और मानसिक पवित्रता, आत्मा की उच्च सांस्कृतिक भूमिका एवं विचारों का कला धरातल पीछे छिप गया है।

धर्म के बहिर्गम और अन्तर्गम दो प्रकार होते हैं, हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि बाह्यी धर्म में या बहिर्गम दृष्टि में बराबर परिवर्तन होता रहता है। प्रत्येक तीर्थंकर अपने-अपने युग में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के अनुसार जीवन के बाह्य नियमों में परिवर्तन करते रहते हैं। पहले तीर्थंकर भगवान् ऋषभ देव के युग में साधुओं का रहन-सहन जिस रूप में था उस रूप में अन्य तीर्थंकरों के समय में नहीं था। मल्लि हर तीर्थंकर के युग में ये नियम और आचार बदलते रहे। भगवान् महावीर ने भी देघ, काल तथा माधवों की बदली हुई स्थिति को सामने रखकर अपने पहले के तीर्थंकरों द्वारा प्रचलित नियमों में अनेक परिवर्तन किये।

परिवर्तन



परिवर्तन वास्तु का स्वरूप है। यही परिवर्तन नहीं होता यही बदला का जाली है। जो व्यक्ति एक बनकर, बँबा बनकर, किसी विषय को पकड़ केठा है वह प्रगतिशील नहीं बन सकता। प्रगति के लिए परिवर्तन आवश्यक होता है। इस व्यावहारिक बीच में जो निरंतर परिवर्तन करते रहते हैं। एक ही योजना ठोस नहीं करते। एक ही पद्धति ठोस नहीं रहनठ। फिर किसी एक ही विषय को लक्ष्यों तक और कुनों तक चलत रहन का कोई रुक नहीं। रहन-रहन आचार-विचार, मर्त्यता परंपरा आदि के हर्षे बराबर परिवर्तन करत रहना चाहिए।

आज के युग के विज्ञान व समाज के कामसे नई-नई प्रश्न पैदा कर रहे हैं। इन प्रश्नों का उत्तर यदि हम पुराने ढंगों से देने की कोशिश करने लगे तो उनका उत्तर कैसे मिलेगा? क्योंकि जिस युग में इन प्रश्नों का निर्माण हुआ उस युग में वे प्रश्न ही नहीं थे। फिर कल का उत्तर इन प्रश्नों में कैसे मिलना सता?

आज ज्ञान की स्थिति बसही समझाएँ, उसके चारों ओर का सतावरण दुधरे युग के समाना भिन्न है। यद्यः आज के युग में जो समझाएँ है, उसका हल करने के लिए हमें आज की दृष्टि के ही सोचना पड़ेगा। अगर हम सोचने के लिए विचारों का बराबरा बंद कर देने लगे तो सारी हवा नहीं निकल सकेगी। सारी हवा बाध करने के लिए दरवाने और खिड़कियों को बोलनर रखना जरूरी होता है। ठीक वही तरह नई-नई विचारों को सहा करने के लिए जो विचार की खिड़कियों की खुला रखना पड़ेगा। जो बंद होकर, बंद-विस्थापी

बनकर पुराने नियमों में अपनी आत्मा को जकड़े रखते हैं, वे अपने जीवन में, अपनी साधना में और अपनी तपस्या में सफल नहीं हो सकते ।

प्रति वर्ष पतझड़ की ऋतु में जिस तरह सारे पत्ते झड़ जाते हैं और फिर वसंत आने पर नयी कोपलें लग जाती हैं, उसी तरह प्रत्येक युग में पुराने रूढ़िवादी विश्वासों को छोड़ देना चाहिए और नये विचारों की कोपलें उगानी चाहिए । किन्तु इतना बराबर ध्यान रहे (कि हमें पेड़ को जड़-मूल से नहीं उखाड़ देना चाहिए । यदि पतझड़ के समय पत्तों के साथ जड़ को भी उखाड़ दिया जाय तो फिर नयी कोपलें किस पर लगेंगी ? (अतः जो शाश्वत, सांस्कृतिक धारा है, आध्यात्मिक साधना है, उसे तो हमें कायम रखना है,) परन्तु उस पर साम्प्रदायिक परंपराओं के अनुसार जो आवरण चढ़ाये जाते हैं, उनको बदलते जाना आवश्यक है । क्योंकि प्रत्येक सत्य का एक स्थायी रूप भी होता है जिसे बदलने की किसी भी युग में आवश्यकता नहीं पड़ती ।) यदि वह स्थायी रहने वाला रूप न हो, तो बदलने वाला रूप किस के सहारे टिकेगा ? इस प्रकार व्यावहारिक रूप में धर्म बदलता रहता है और मौलिक रूप में वह स्थिर रहता है ।

मौलिक धर्म



अहिंसा मौलिक धर्म है । वह बहिरंग नहीं होती, अंतरंग दृष्टि है । किसी भी युग में दूसरों को पीड़ा देना, दूसरों को सताना, दूसरों को मारना, दूसरों का शोषण करना, दूसरों के अधिकारों को छीनना धर्म नहीं हो सकता ।

जैसे शरीर बदलते रहने पर भी आत्मा नहीं बदलती, वह किसी भी परिस्थिति में अपने चैतन्य स्वरूप को नहीं छोड़ती, चाहे वह

संसार में रहे या मोक्ष में जाय जाये वह मनुष्य-जीवि में रहे या पशु-जीवि में जाय (जात्या तो जातना ही रहेंगी) इसी प्रकार अहिंसा धर्म की जातना है।) उसके यौक्तिक रूप में किसी भी समय और किसी भी परिस्थितिबद्ध किसी प्रकार का परिवर्तन संभव नहीं है। यद्यपि धर्म को समझने के लिए अहिंसा को महीनादि समझना आवश्यक है।

आवश्यक से जीवनधर्म अहिंसा को प्रधान स्थान देता है। अतएव जीवनधर्म का दर्शन जाते ही अहिंसा धर्म का जाती है। इसी प्रकार अहिंसा का प्रत्यक्ष विरोध ही जीवनधर्म की धार का जाती है।

अहिंसा का उत्पत्ति बहुत सूक्ष्म है। इसलिए उसके विवेचन में हमें अपना दृष्टिकोण बहुत ही अनुकूल रखना होगा। अतएव हमारे मन में आन्ध्रियाँ भर कर जायगी। अतएव हम उनके लघु रूप को ही देखें। लघु रूप में नहीं जायेंगे तो उनकी वह में पहुँचना संभव नहीं होगा।

हम यह जानना चाहिए कि हिंसा किन्तुने प्रकार की है। जीवन धर्म में हिंसा के एक नहीं बनेक नहीं सम्भव नहीं बल्कि अत्यन्त मेरु बनाय है। कोई आसानी समुद्र के किनारे खड़ा है और वह नगर जाने के समय समुद्र की लहरों को गिनना चाहता है तो क्या उन लहरों को गिनना संभव है? उसी प्रकार वह साया संसार एक अवाह समुद्र की भाँति पैसा हुआ है। चित्तक संसार के एक किनारे खड़ा होकर देख कि उसमें हिंसा कहा है और कैसे हो रही है। तो वह इसे पूर्वतः पकन नहीं पाएगा। हम समुद्र में प्रतिपक्ष विभिन्न विचारों का नगर बाँटा बँटता रहता है और हमारी लहरें हिंसोरे भास करती हैं। मगर तो बहुत दूर की बात है। हम अपने मन को ही लें। इस मन में भी दिन-रात प्रतिपक्ष भावना की लहर बँटती रहती है। उस

समय ऐसा मालूम होता है कि हमारा मन मानो एक असीम समुद्र बन गया है ।

वधन का रूप



(इस आत्मा के साथ हिंसा का वधन जब होता है, तब आत्मा में कपन उत्पन्न होता है, हलचल होती है और उस हलचल के साथ क्रोध, अहंकार, दम एवं लोभ के संस्कार जागृत होते हैं ।) जब आत्मा में ये संस्कार नहीं रहते, हलचल नहीं होती, तब हिंसा का वधन भी नहीं होता । जब मन, वाणी और शरीर में कपन नहीं होता तब आत्मा पूरी तरह शान्त और स्थिर हो जाती है । उस स्थिर अवस्था में समुद्र का ज्वारभाटा जैसे बन्द रहता है, उसी तरह हमारे मन की भावनाएँ भी बन्द रहती हैं । किन्तु इस मन के कपन को गिनना हर किसी के लिए संभव नहीं है और जब मन का कपन गिना नहीं जा सकता तब हिंसा के भेदों की भी गणना कैसे की जा सकती है । फिर भी स्थूल रूप में हम यदि गिनने के लिए बैठें तो सबसे पहले हिंसा के तीन रूप हमारे सामने आयेंगे । सरम्भ, समारम्भ और आरम्भ । हिंसा के विचारों का आरम्भ होना सरम्भ है, हिंसा के लिए सामग्री जुटाना समारम्भ है और फिर प्रारम्भ से लेकर अन्त तक हिंसा की क्रिया करना आरम्भ है । इस प्रकार हिंसा के तीन भेद हुए । अब देखना चाहिए कि हिंसा के जो सकल्प या प्रयत्न किये जाते हैं, उनके क्या कारण हैं । अतः हृदय की दूषित भावनाएँ ही हिंसा को प्रेरित करती हैं । वे दूषित सकल्प ही हिंसा के लिए प्राथमिक सामग्री हो जाते हैं और अन्त में उन्हीं सकल्पों से बल पाकर हिंसा की क्रिया आरम्भ की जाती है । मन की अथवा आत्मा की वे दूषित भावनाएँ चार भागों में बाँटी जा सकती हैं । क्रोध, मान, माया और लोभ ।

बस्तार में रहे या बोझ में बान बाहे वह यथार्थ-मौलिक में रहे या नष्ट मौलिक में बादे (आत्मा तो आत्मा ही रहेगी) वही प्रकार अहिंसा बर्ष की आत्मा है।) उसके मौलिक रूप में किसी भी समय और किसी भी परिस्थितिबद्ध किसी प्रकार का परिवर्तन सम्भव नहीं है। अतः बर्ष को समझने के लिए अहिंसा को बही-बाँति समझना आवश्यक है।

बास्तौर में जीवनवर्ष अहिंसा को प्रधान स्थाव है। अन्तर जीवनवर्ष का प्रत्यक्ष जाने ही अहिंसा बाध का बाती है। इसी प्रकार अहिंसा का प्रत्यक्ष विरुद्ध ही जीवनवर्ष की बाध का बाती है।

अहिंसा का शास्त्र बहुत सूक्ष्म है। इसलिए उसके विवेचन में हमें अपना दृष्टिकोण बहुत ही सतुष्टि रखना होना। अल्पबा हमारे मन में प्रान्तियाँ भर कर बादी। अगर हम उसके स्मृत रूप को ही देखेंगे मुझ रूप में बही बायेमें तो समझी वह में पहुँचना संभव नहीं होना।

हमें वह जानना बाहिए कि हिंसा किसके प्रकार की है। जीवन व हिंसा के एक नहीं अनेक नहीं अस्तित्व नहीं बल्कि अनन्त घेर बनाम है। कोई आसानी समुद्र के किनारे कहा है और वह ज्वार भाँटे के समान समुद्र की जहरों को बिना बाह्या है तो क्या वन लहरों को बिना समझ है ? उसी प्रकार वह बाध संसार एक अचर्य समुद्र की जालि फैला हुआ है। विश्व संसार के एक किनारे कहा होकर देख कि उसमें हिंसा कहा है और कहीं हों रही है, तो वह उसे दुर्बल पकड़ नहीं पायगा। इस समुद्र में अतिविक विभिन्न विचारों का ज्वार भाटा उठना रहता है और उनको जहरों हिंसे में बाध करती है। मत्तार तो बहुत दूर की बात है। हम अपने मन को ही हैं। इस मन में ही विष-बाध अतिविक बाधना की जहरें उठती रहती हैं। वन

है, यदि हम किसी भी प्राणी को स्वतन्त्रता पूर्वक जीवन की प्रगति करने से रोकते हैं, तो हिंसा के भागीदार बन जाते हैं।)

प्रश्न उठता है कि आखिर मनुष्य अपनी जिदगी में हरकत तो करता ही है। वह चलता है, खाता है। इस तरह कहीं न कहीं और किसी न किसी रूप में दूसरे जीवों के गन्तव्य मार्ग में रुकावट पैदा हो ही जाती है। ऐसी स्थिति में स्वभावतः यह प्रश्न उपस्थित हो जाता है कि आखिर हम किस प्रकार अहिंसक रह सकते हैं? केवल गृहस्थ ही नहीं, बल्कि ससार से पूर्णतः निवृत्त साधु भी इन क्रियाओं के कारण दूसरे जीवों की स्वतन्त्रता में बाधक बन सकते हैं। कल्पना कीजिये कि साधु के जल से भरे पात्र में मक्खी गिर जाती है। उसे निकालना तो पड़ेगा ही, निकालते समय उसे कष्ट भी होगा। ऐसी स्थिति में क्या किया जाए?

मान लीजिये, एक प्राणी है और घूप में पड़ा है। अपग होने के कारण वह इधर-उधर नहीं जा सकता। आप उदारतावश उसे घूप से उठाकर छाया में रख देते हैं। इस तरह उस प्राणी को मरने से बचा लेते हैं, (किन्तु शास्त्र में तो लिखा है कि किसी जीव का एक जगह में दूसरी जगह रख देना भी हिंसा है।) लेकिन यह सोचने का सही तरीका नहीं है। यदि इसी दृष्टि से विचार किया जायेगा तो फिर कहीं पंर रखने को भी जगह नहीं मिलेगी। फिर तो मनुष्य का जीना ही हिंसामय हो जायेगा। आखिर श्वास की हवा से भी तो सूक्ष्म जन्तुओं की स्वतन्त्र गति में बाधा पड़ती है।

क्रिया और भावना



भगवान् महावीर छ मास तक हिमालय की तरह अचल खड़े रहे। किन्तु उसके बाद वे भी भोजन के लिए इधर-उधर गए।

हिमा के मूल में वे चार वृत्ति संरक्षण ही हैं जो हमें वास्तव बनाकर हिमा के लिए समुच्च करते हैं। इन वृत्ति संरक्षणों का एक मिश्रण अधिक पहचान होना चाहती ही हिमा भी अधिक बढ़ती होती। जब इन वृत्ति संरक्षणों से घेरित होकर ही हम अपने वास्तविक स्वभाव को मूल पाते हैं। जब बचन और धर्म दोनों पर है निर्वाचन तभी दृष्टा है जब वृत्ति संरक्षण बलवान बनते हैं।

इसमें सार्वजनिक और आत्मिक इन दोनों को बीच बांध बांधा और जोड़ इन चारों के साथ गुणन करने के हिमा के बाह्य बंध बन जाते हैं और इन बाह्य बंधों का घन बचन और धर्म इन दोनों बांधों के साथ गुणन कर देने के हिमा के अन्तर्गत बंध हो जाते हैं। फिर स्वयं करना वृत्ति के करवाना और अनुवीक्षण करना इन दोनों दोनों द्वारा हिमा होती है। इसलिए इनके साथी वृत्ति संरक्षण बंधों को वृत्ति कर देने के हिमा के एक ही बांध बंध बन जाते हैं। इन एक ही बांध बंधों वाले वृत्ति के हिमा होती हैं। जब एक ही बांध वृत्ति को रोकने के लिए हमें विरंतर संवर्धन करना पड़ता है। जब हम इस संवर्धन में विवश हो जाते हैं तब हिमा के धर्म हुए एक जाते हैं और अहिमा का स्वयं वातावरण हमारे चारों ओर फैल जाता है। हिमा की वृत्ति वचन में है जब हम अहिमा के सुवर्धित वातावरण में पहुँचते हैं तब एक अनिवार्यता की भाँति की अनुवृत्ति होती है।

अनिवार्य हिमा और अहिमा के विवेचन में पहुँचता है। वह वह बहुराई की समझने के लिए साधक की अपनी बुद्धि तथा अपने विवेक की सत्त्व सामर्थ्य रखने के लिए बारीक होता है। इस धर्म विवेचन के वह बात स्पष्ट हो जाती है कि हिमा का अर्थ केवल मारना ही नहीं है (बल्कि वचन में बाधा हुआ अर्थवत् वृत्ति संरक्षण हिमा है, जिसे भी प्राणी की स्वतन्त्रता में बाधा पैदा करना भी हिमा

लिए जाने वाले आहार को हम पापमय कहेंगे तो वह बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं माना जायेगा। इसलिए जैन धर्म वाह्य क्रियाओं के करने या न करने में कोई पुण्य-पाप नहीं मानता। यह पुण्य और पाप हमारे जीवन से अलग कोई काल्पनिक वस्तु नहीं है। पुण्य और पाप तो भावना के दो पहलू हैं। देखने के दो दृष्टिकोण हैं। अगर हम एक चीज को सही ढंग से देखते हैं, उसका सही इस्तेमाल करते हैं, उसके साथ न्याय करते हैं, तो वह पुण्य है और उसी चीज का अगर हम गलत इस्तेमाल करते हैं, दुरुपयोग करते हैं, उसके साथ अविवेक पूर्वक पेश आते हैं, तो वही पाप हो जाता है। इसलिए पुण्य और पाप हमारे दृष्टिकोण की विषमता के अलावा और दूसरी चीज नहीं है। वह तो हमारे आँखों के अन्दर ही रहने वाली चीज है। एक ही दृष्टि में पर भी पड़ती है, वहन पर भी पड़ती है और पत्नी पर भी पड़ती है, लेकिन एक समय वह दृष्टि वात्सल्य चाहती है, दूसरे समय में वह दृष्टि प्रेम चाहती है और तीसरे समय वही दृष्टि भोग चाहती है। एक ही दृष्टि तीन स्थानों पर तीन रूप ले लेती है। अतः हमें यह कहना होगा कि नारी पाप की चीज नहीं। या नारी नक का द्वार नहीं। नारी एक पवित्र चीज है। हम उसे किस दृष्टि से देखते हैं, इसी पर पाप और पुण्य, नर्क या स्वर्ग का द्वार अथवा अच्छाई या बुराई, निर्भर करती है।

प्रमादवश यह सारी चीज उत्पन्न होती है। अगर हम हिंसा के दृष्टिकोण को और अहिंसा के दृष्टिकोण को एक ही शब्द में व्यक्त करना चाहें, तो कह सकते हैं कि प्रमाद हिंसा है और अप्रमाद अहिंसा है, अथवा विवेक अहिंसा है और अविवेक हिंसा है। इस बुनियादी तत्त्व को जब हम समझ लेंगे तब हमें अहिंसा के बारे में पर्याप्त दृष्टि मिल जाएगी और जब तक इन दोनों के रूप में बुनियादी तत्त्व को नहीं समझेंगे, तब तक हिंसा और अहिंसा के विद्वेषण में हम चक्कर लगाते रहेंगे, किसी निश्चित परिणाम तक नहीं पहुँच पाएंगे।

महीने हो गहीने अधिक-से-अधिक छः महीने की उपरवा में बिगने का मरते हैं। किन्तु जीवन को वायन रखने के लिए यमन आधमन लिए बिना ही कुछ भी नहीं हो सकता। अब यह स्थिति हमारे मजबूत है तो हम विचार करना चाहते हैं कि हिंसा और अहिंसा के बीच सम्बन्ध-रेखा कौन-सी है? वायन के बिना ही हरकत के साथ हिंसा का सम्बन्ध नहीं है। अब हमें ही कई बार यह स्पष्ट कर चुके हैं कि हिंसा ही हरकत की जिंदा न बहकर उनके पीछे ही दूधित सम्बन्ध है जो बिना आधमन है वा जो न्याय भाव है वह हिंसा है और गही वायन ही है। इसलिए नरकत्व की दृष्टि से विवेक पूर्वक यदि हिंसा प्राणी को इतर-इतर दिया जाय उनके व्यवसायव्यवसाय में अचरीय किया जाय तो वह जिंदा नहीं है। यदि दृष्टि कुछ है तो गही की वायन नहीं है। गही वायन जाने-बीने के सम्बन्ध में भी है। दूधित जाने-बीने में वायन नहीं किन्तु जाने-बीने के पीछे वृत्ति क्या है वह देखना होता। यदि वायन केवल जाने के लिए या स्वाध के लिए ही है तो वह वायन हिंसात्मक है। यदि जाने के पीछे विवेक है वनना है बीने के लिए जाना है और लाकर समाज की सेवा करने का सम्बन्ध है तो ऐसा जाना धर्म है। अब उपरवा है या जाना? यदि छ महीने तक उपरवा की और फिर एक दिन जीवन किया तो वह जीवन धर्म है या वायन? यदि जीवन नहीं करने तो उपरवा बीने करने? और यदि उपरवा कर के जीवन करना वायन है, तो फिर वायन-वचन पर जाने के पहले ही दिन आजीवन जीवन करने का परिणाम कर देना चाहिए। अतः सभी दृष्टियों में जीवन पर ऐसा लगना है कि (वायन-विनाश की मजिद तक जाने के लिए उपरवा की आवश्यक है और बाह्य की आवश्यक है। अब उपरवा की उपयोगिता ही सब उपरवा धर्म है और अब बाह्य की उपयोगिता ही सब बाह्य करना धर्म है।) इसलिए व्यवसाय गहनीर के अब उपरवा की सब की कर्ण धर्म हुआ और अब बाह्य बहुत किया, सब की कर्ण धर्म हुआ। यदि उपरवा के बाद

लिए जाने वाले आहार को हम पापमय कहेंगे तो वह बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं माना जायेगा। इसलिए जैन धर्म बाह्य क्रियाओं के करने या न करने में कोई पुण्य-पाप नहीं मानता। यह पुण्य और पाप हमारे जीवन से अलग कोई काल्पनिक वस्तु नहीं है। पुण्य और पाप तो भावना के दो पहलू हैं। देखने के दो दृष्टिकोण हैं। अगर हम एक चीज को सही ढंग से देखते हैं, उसका सही इस्तेमाल करते हैं, उसके साथ न्याय करते हैं, तो वह पुण्य है और उसी चीज का अगर हम गलत इस्तेमाल करते हैं, दुरुपयोग करते हैं, उसके साथ अविवेक पूर्वक पेश आते हैं, तो वही पाप हो जाता है। इसलिए पुण्य और पाप हमारे दृष्टिकोण की विपमता के अलावा और दूसरी चीज नहीं है। वह तो हमारे आँखों के अन्दर ही रहने वाली चीज है। एक ही दृष्टि मा पर भी पड़ती है, बहन पर भी पड़ती है और पत्नी पर भी पड़ती है, लेकिन एक समय वह दृष्टि वात्सल्य चाहती है, दूसरे समय में वह दृष्टि प्रेम चाहती है और तीसरे समय वही दृष्टि भोग चाहती है। एक ही दृष्टि तीन स्थानों पर तीन रूप ले लेती है। अतः इसे यह कहना होगा कि नारी पाप की चीज नहीं। या नारी नरक का द्वार नहीं। नारी एक पवित्र चीज है। हम उसे किस दृष्टि से देखते हैं, इसी पर पाप और पुण्य, नर्क या स्वर्ग का द्वार अथवा अच्छाई या बुराई, निर्भर करती है।

प्रमादवश यह सारी चीज उत्पन्न होती है। अगर हम हिंसा के दृष्टिकोण को और अहिंसा के दृष्टिकोण को एक ही शब्द में व्यक्त करना चाहें, तो कह सकते हैं कि प्रमाद हिंसा है और अप्रमाद अहिंसा है, अथवा विवेक अहिंसा है और अविवेक हिंसा है। इस बुनियादी तत्त्व को जब हम समझ लेंगे तब हमें अहिंसा के बारे में पर्याप्त दृष्टि मिल जाएगी और जब तक इन दोनों के रूप में बुनियादी तत्त्व को नहीं समझेंगे, तब तक हिंसा और अहिंसा के विश्लेषण में हम चक्कर लगाते रहेंगे, किसी निश्चित परिणाम तक नहीं पहुँच पाएंगे।

प्रवृत्ति और निवृत्ति



अहिंसा शब्द के साथ जो विरोध जुड़ा हुआ है उसे देखकर छाया
रस जीव और कभी-कभी कुछ विविष्ट विचारक भी भ्रम में पड़ जाते
हैं। वे समझ बैठते हैं कि अहिंसा शब्द निरेवात्मक है और इसीलिए
अहिंसा निवृत्ति-वशक है। इस भ्रम में आनेक विरोध पैदा किये
और आज भी भ्रम के कारण अनेक लोग चक्कर में पड़ जाते
हैं। अब अहिंसा की विवेचना करते समय यह समझना निर्णय
साधक है कि अहिंसा केवल निवृत्ति की ही वृत्ति है या उसमें कहीं
प्रवृत्ति भी है ? अगर इस सुनिवार्य प्रश्न को हम नहीं समझेंगे तो
अहिंसा की वास्तविकता से बहुत दूर चटक जायेंगे।

अहिंसा क्या है ? वस्तुतः क्या वह संसार से अलग-अलग अकेली
बनी है ? क्या उसका संसार के जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं है ?
क्या सामाजिक जीवन की व्यवस्थाओं से उसका कोई सम्बन्ध नहीं
है ? यदि वस्तुतः अहिंसा समाज के लिए, इस संसार के लिए और
इस जीवन के लिए उपयोगी साधित नहीं होती है तो उस अहिंसा का
फलान इस समाज में और इस जीवन में कब का कोई कुछ नहीं
रहता। अहिंसा का फलक यदि इस जीवन की या इस समाज की
प्रवृत्ति में कोई बाध ही नहीं है सफलता ही फिर कब इस समाज में
रहने का अधिकार भी है या नहीं ? यह सुनिवार्य प्रश्न क्या हो
जायगा। अहिंसा की आवश्यकता करने वालों की इन प्रश्नों का स्पष्ट
उत्तर देना होगा और यदि इन प्रश्नों का उत्तर देने में अहिंसा की

साधना करने वाले थोड़ी-बहुत भी आनाकानी करते हैं, तो आज के विज्ञानवाद के युग में रहने वाला मानव उनकी अहिंसा को स्वीकार नहीं करेगा।

जो अहिंसा कम-श्रेष्ठ से अलग हो जाती है, जो अहिंसा निष्प्रिय होकर हर जगह में भटकना ही चाहती है, जो अहिंसा प्रवृत्ति से डरकर कोने में दुबक जाती है, जो अहिंसा अपने आपको सामाजिक जीवन से अलग मानती है, वह अहिंसा किसी भी रूप में उपयोगी नहीं हो सकती।

कोरी निवृत्ति की बातें और निवृत्ति के सिद्धांत सुनने में मीठे लगते हैं। ऊपर-ऊपर से भले प्रतीत हो सकते हैं किन्तु अगर हम गहराई में जाकर सोचेंगे कि जबतक जीवन का ज्ञान और जीवन की दृष्टि नहीं मिलती, तब तक अहिंसा का कोई उपयोग नहीं है। उस समय हमारी आखें खुल जाएंगी और हम कोरी निवृत्ति के पीछे पागल होकर दौड़ना बन्द कर देंगे।

हमारे कुछ साथी कहते हैं कि प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों एक साथ नहीं रह सकती। दोनों की दिशाएँ दो हैं, दोनों के स्वभाव दो हैं। जैसे दिन और रात एक साथ नहीं रह सकते, जैसे गरमी और सर्दी एक जगह नहीं रह सकती, उसी तरह प्रवृत्ति और निवृत्ति भी एक साथ नहीं रह सकतीं। किन्तु यह दृष्टि भ्रामक है और ये उदाहरण भी असतुलित हैं। अहिंसा के अनेक पहलू हैं, अनेक अंग हैं और अनेक अंश हैं। इसलिए प्रवृत्ति में भी अहिंसा हो सकती है और निवृत्ति में भी अहिंसा हो सकती है। अहिंसा में ये दोनों पहलू सदा एक साथ रहते हैं। एक कार्य में प्रवृत्ति, दूसरे कार्य में निवृत्ति हो सकती है, यह हम क्यों भूल जाते हैं ? यदि किसी निवृत्ति के साथ कोई प्रवृत्ति नहीं करते हैं तो उस निवृत्ति का कोई भी मूल्य नहीं है।

स्वरस्य रहने की बात है कि निवृत्ति का अर्थ निष्क्रियता नहीं है । अगर निवृत्ति का अर्थ निष्क्रियता हो या जमाज से विमुख हो जाना हो या जीवन के प्रयत्न के प्रति ज़रोख़ाभाव रहना हो तो हर्ष यह निवृत्ति स्वीकार्य नहीं है ।

साधु के जीवन में दो प्रकार की सर्वादाओं का उल्लेख है । तथिति और वृत्ति । तथिति की सर्वादाएँ प्रवृत्ति-मूलक हैं और वृत्ति की सर्वादाएँ निवृत्ति-मूलक हैं । यदि अहिंसा का अर्थ केवल निवृत्ति ही है तो तथितियों का उल्लेख उनका विशेषण और उनका निकषण क्यों दिया जाता ?

दोनों समान



जीवन के क्षेत्र में कोई काम हो या आचरण—दोनों के लिए प्रवृत्ति और निवृत्ति समान रूप से आवश्यक हैं । अतः आचरण से विमुख होना और अतः आचरण में प्रवृत्त होना कौन स्वीकार नहीं करेगा ? सेवा करो प्रेम करो दया करो क्षमा करो—ये सब करने के काम हैं । यदि एक मनुष्य दूसरे मनुष्य के प्रति सहानुभूति न रखे दूसरों के कष्टों में काम न लगे दूसरे की सेवा के लिए तैयार न रहे तो यह कैसा आचरण है ?

कुछ सम्प्रदायों में या कुछ विचार-मार्गप्रदाओं में अहिंसा की कल्पना की अत्यन्त संकुचित क्षेत्र में सीमित दिया गया है । किसी की तरफ़ की सामाजिक प्रवृत्ति को और सामाजिक सेवा की, सामाजिक सुधार की प्रवृत्ति का नाम देकर उसे पाप माना जाता है और दूर रहने की प्रेरणा दी जाती है । लेकिन हम संकुचित विचार से

अहिंसा की खोज करनी चाहिए और यह समझना चाहिए कि अहिंसा सामाजिक जीवन की रीढ़ है। यदि सामाजिक जीवन टूट जायेगा, यदि सामाजिकता के टुकड़े हो जाएंगे तो कहा तक यह अहिंसा टिकेगी? कहा यह घम टिकेगा? और कहा ये प्रवृत्ति-निवृत्ति के सिद्धान्त टिकेंगे? इसलिए इन सबसे ऊपर जो तत्त्व है, वह समाज है, समाज को घुरी मानकर ही हम उसके आस-पास की भूमि तैयार करते हैं और समाज को बलवान् या सुदृढ़ बनाने के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार की मर्यादाओं का निर्माण करते हैं। यदि उन मर्यादाओं की रक्षा के लिए हम मूल तत्त्व का विनाश कर देंगे, तो वे मर्यादाएँ क्या काम आयेंगी?

विज्ञान और मनोविज्ञान के अनेक अन्वेषकों ने यह साबित कर दिया है कि मनुष्य बिना समाज के, अकेला नहीं रह सकता। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह समाज से बल पाता है, समाज से जीवन पाता है और समाज से दृष्टि पाता है। इसलिए समाज को वापिस कुछ-न-कुछ देना यह उस मानव का कर्तव्य है। अगर कोई भी मानव अपने इस कर्तव्य से मुकरता है या च्युत होता है या दूर भटकता है, तो वह न केवल समाज के साथ बल्कि अपने-आपके साथ भी अन्याय करता है।

हृदय हीनता



जब इन्सान पर इन्सान हावी हो रहा हो, जब चारों ओर हिंसा, वैमनस्य तथा शोषण का दमन-चक्र चल रहा हो, जब समाज में अज्ञान, दम, दरिद्रता और बीमारी का प्रचण्ड प्रकोप फैले हो, तब यदि कोई व्यक्ति ऐसा कहे कि मैं तो अहिंसक हूँ, तटस्थ हूँ, निवृत्ति-परायण हूँ, मुझे इस समाज की हीनअवस्था से क्या सरोकार है?

यदि कोई प्राणी हमारे सामने मर रहा है तो हम, समझते हैं, अपने शरीर पर काबू कर लें और उस मरने वाले प्राणी को बचाने की कोशिश न करें। किन्तु ऐसे अवसर पर उस प्राणी के प्राणों को रक्षा करने का मानसिक संकल्प तो अत्यन्त स्वाभाविक है। लेकिन फिर भी यदि हम उन संकल्पों की उपेक्षा करते हैं तो हमारे मन की दया कुचली जाती है और इस प्रकार अपनी आत्म हिंसा का झिंकार होना पड़ता है।

जब अन्तःकरण में कण्ठ जगती है तब मनुष्य भाव-विभोर होकर गद्गद हो जाता है। उस समय पुराने पाप-कर्म नष्ट होते हैं और नये शुभ कर्मों का वन्धन होता है।

सामाजिक-साधना



यह प्रश्न काफी विवादास्पद है और इस प्रश्न पर अनेक तरह के मत-भेद भी हो सकते हैं अथवा इस दृष्टिकोण के सम्बन्ध में कई तरह के तर्क उठ सकते हैं। परन्तु हम अपनी अविश्वास से ऊपर उठकर यदि आज की दुनिया को ध्यान में रखकर सोचेंगे और आज की समस्या के समाधान के लिए विचार करेंगे तो हमें रास्ता साफ दिखाई देगा और हम यह स्वीकार कर लेंगे कि मानवता की सेवा के लिए, सामाजिकता को अखण्डित रखने के लिए, न्याय और सत्य की रक्षा के लिए, गरीबी, अज्ञान और शोषण को दूर करने के लिए हर प्रकार की प्रवृत्ति करनी चाहिए और वह प्रवृत्ति अहिंसा है, सामाजिक साधना है, इसीलिए धर्म भी है।

बहुत-से लोग ऐसा समझते हैं कि घर में झाड़ लगाना, वस्त्र धोना, चक्की पीसना, भोजन पकाना इत्यादि कार्य हिंसाजनक होने

के कारण स्वामी है । तावत् की बुद्धिका की ठीक तरह समझे बिना हमने स्पष्ट कर के एकान्त ध्यान वह साधना अधिन नहीं है । यदि ध्यान की जाती की हूय किसी पदार्थ के नहीं विराजित होना चाहते हैं तो हरे बाहर के स्वरूप वातावरण पर आकारित होना अधिष्ठा के रूप संवृष्टि धर्मों के बाहर निष्कला चाहिए और जो हमारे मन में होना की प्रतिपत्ति हुई है उसे दूर करने की नीतिष्ठ करने चाहिए । एक सम्बन्ध पर में जाना नहीं सकला अध्यात्म आदर नहीं सकला लेकिन निम्नरूप ध्यान के बीच पर ध्यान कला होना या साधनों के साथ मुक्तताकोटी का व्यवहार कला होना तो क्या वह ध्यान अधिष्ठा की साधना के साथ नहीं विराजित होती है ? तबही तो यह है कि अधिष्ठा प्रवृत्ति और निवृत्ति के उक्तों के समान्य नहीं है । निम्न प्रवृत्ति और निवृत्ति के उक्तों के समान्य उक्तों की साधनाओं के सम्बन्धित है : (अन-दर्शन का सुख निम्नरूप ध्यान सम्बन्धित के विस्तृत स्पष्ट है । यह प्रवृत्ति है कि यदि साधन बाधित है तो यह ध्यान में भी अधिष्ठा की उपलब्धि कर सकला है । और यदि बाधित नहीं है प्रवृत्ति है तो यह अधिष्ठा के वातावरण में भी ध्यान का वातावरण उपलब्ध कर सकला है । सुख प्रवृत्ति विवेक का है, निम्न का नहीं । नीचे भी ध्यान हो विवृत्ति विवेक है प्रवृत्ति धर्म है ।)

नयी दृष्टि



इतिहास साक्षी है कि अधिष्ठा की मुख्य व्याख्याओं के कारण हमारे देश को बड़ी-बड़ी हाथियाँ कलानी पड़ीं उसे मुक्त होना पडा और उक्तों काहित्य प्रवृत्ति तथा संवृष्टि पर जानेक बड़े-बड़े मुक्त-वस्तु हुए । यदि अधिष्ठा के कारण हमारे मनों में वातावरण उत्पन्न होती है, तो ऐसी अधिष्ठा निम्न ध्यान की ? ध्यान साधन के रूप में धिरे

से अपना निर्माण कर रहा है और चारो तरफ राष्ट्रवादी प्रवृत्तियां जोर पकड़ रही हैं। धर्म के, जाति के, सम्प्रदाय के छोटे-छोटे कटघरे टूट रहे हैं और विशाल वातावरण का निर्माण हो रहा है। उस विशालता के सदर्म में और नव-निर्माण के सदर्म में हमें अहिंसा के प्रतिपादन का पुराना तौर-तरीका छोड़ना होगा तथा नयी दृष्टि से संपूर्ण विषय पर अनुसंधान करना होगा।

यदि कोई ऐसा मानता है कि जीवन-सघर्ष की अथवा अन्याय से लड़ने की ताकत केवल हिंसा में ही है, तो वह भारी भ्रम में है। हम प्रवृत्ति-प्रधान अहिंसा के द्वारा यह सिद्ध कर के दिखा सकते हैं कि अहिंसा में भी असहयोग हो सकता है, लेकिन वह असहयोग विनयपूर्वक होगा। अहिंसा में भी आग्रह हो सकता है, लेकिन वह आग्रह हठाग्रह नहीं, बल्कि सत्याग्रह का रूप धारण करेगा। अहिंसा के जरिए सघर्ष और मुकाबला भी किया जा सकता है, लेकिन उसके हथियार तोप और बंदूक नहीं बल्कि प्रेम और सद्भाव होंगे। यह सारी प्रवृत्ति हैं। इस प्रवृत्ति से डरना उचित नहीं। हमें प्रवृत्ति करते समय अपनी मर्यादाओं का ध्यान अवश्य रखना चाहिए, (लेकिन समाज की सेवा और समाज के निर्माण से बढ़कर अहिंसा के लिए और कोई ऊँचा आदर्श नहीं हो सकता। जीवन और समाज की प्रत्येक प्रवृत्ति में अहिंसक दृष्टिकोण पैदा करना है।)



क्या अहिंसा व्यावहारिक नहीं है ?



अहिंसा के सम्बन्ध में बड़े-बड़े प्रकार के प्रश्न और भय प्रकीर्णित हैं। जब तक हम जर्मों का पूर्णतः विरुद्धता न हो जाय तब तक अहिंसा की हम ठीक तरह से समझ नहीं सकते और न इसका लाभ उठा सकते। अहिंसा के बारे में जो सबसे बड़ी बात कही जाती है वह यह है कि अहिंसा एक अच्छी चीज होती है पर भी सामान्य जीवन में व्यावहारिक है। यानी वह जीवन के रोजमर्रा के व्यवहार में उपयोगी नहीं है।

ऐसा कहकर के अहिंसा की उपयोगिता को नष्ट कर दिया जाता है क्योंकि चाहे कौसी भी अच्छी चीज हो उसका फलना ही मूल्य हो; फिर भी यदि वह जीवन में उपयोगी नहीं है तो उसको अपमान से क्या सम्बन्ध ? किसी भी विद्वान्त की कसौटी इसकी व्यावहारिकता पर ही निर्भर है। अतः हम इस प्रश्न की अच्छी तरह से समझना चाहते हैं कि क्या सम्बन्ध में अहिंसा व्यावहारिक नहीं है ? अगर हमें किसी भी क्षण यह समझ में आ जाय कि अहिंसा एक व्यावहारिक विद्वान्त है, यानी वह एक साधारण-सुलभ चीज उत्पन्न है तो हम उसे बिना किसी हिचक के अपने घर में लीज देंगे; क्योंकि यह विद्वान्त हमारे काम का नहीं होगा। परन्तु यदि अहिंसा ही जीवन का स्वभाव स्थापित हो और ऐसा अनुभव हो कि बिना अहिंसा के काम ही नहीं चल सकता तब तो अहिंसा के सम्बन्ध में हम और अधिक तीव्रता के साथ विवेचन करेंगे और इसका प्रचार करेंगे।

एक मोटर ड्राईवर जब लम्बे सफर पर निकलता है तो रास्ते में अनेक प्रकार के गड्ढे, क्षाब्धिया, रोडे, बच्चे, बूढ़े इत्यादि मिलते हैं। यदि वह ड्राईवर अपने काम में कुशल हो तो अवश्य ही इन सबसे अपनी कार को बचाते हुए चलेगा। और अगर वह कुशल ड्राईवर नहीं है तो रास्ते में अनेक एक्सिडेंट करते हुए परेशानी का सामना करेगा। ठीक इसी तरह से जीवन भी एक लम्बा सफर है। इस लम्बे सफर में अनेक व्यक्तियों के साथ, अनेक परिस्थितियों के साथ और अनेक बाधाओं के साथ मनुष्य को पेश आना पड़ता है। अगर उस मनुष्य की वृत्ति अहिंसा परायण है, तब तो वह इन प्रतिकूलताओं से बचता हुआ चलेगा। यदि कहीं किसी के साथ उलझ भी गया तो वह उस परिस्थिति को सुलझाकर शांति के साथ आगे बढ़ जायेगा। किन्तु अगर उसकी वृत्ति हिंसा प्रधान होगी तो वह सबके साथ बिना किसी मतलब के उलझता रहेगा, झगड़े करता रहेगा, परेशान होता रहेगा और अपने को अशांत बना डालेगा।

जीने की कला



जीवन जीने के लिए है। जो व्यक्ति आनन्द और सुख से जी नहीं सकता, उसका जीवन व्यर्थ ही है। अशांति, परेशानी, चिन्ता, दुख आदि से घिरा रहने वाला व्यक्ति जीवित भी मृत के समान ही है। अब हमें सोचना चाहिए कि जीवन सुखपूर्वक कैसे बीत सकता है। क्या किसी के साथ उलझने से, किसी के साथ झगड़ा करने से, किसी को कष्ट पहुँचाने से हमारे जीवन को आनन्द मिलता है? कभी नहीं। किसी दूसरे को कष्ट देने से हमारे ही मन को कष्ट पहुँचता है। किसी दूसरे के साथ उलझने से हमें ही परेशानी का सामना करना पड़ता है और इस तरह हमारा जीवन अशान्त एवं चिन्तातुर बन जाता है। किन्तु अगर हम प्रेम से, सौजन्य से, सद्भाव से समाज

ये जीने हैं। समाज की सेवा करने हैं। समाज में रहने वाले हमारे मनुष्यों के साथ सहवास रखते हैं। तो हमारा जीवन आनन्दमय और सुखमय बनता है। इन नीतियों और सहवास में एक ऐसी मुक्तानुमति होती है। जो हमें चिरंतन सन्तोष का प्रभाव दे जाती है।

अब बतलिये कि एक व्यक्ति ने आगे के घर में खोरी की। अब हमको सुधारने के दो रास्ते हैं। एक तो यह कि उसे माउ नाम दीया जाय। उसे बैक में डाला जाय तथा उसे लंब चिका जाय। दूसरा यह कि अगर वह समाज में वीक्षित है तो उसका अपाव दूर कर दिया जाय। अगर वह समाज में अनगुप्ट है तो उसका अपाव छोड़ सन्तोष से बर्हक दिया जाय। अगर उसे कोई नाम नहीं मिला है और ऐसी परिस्थिति में यह खोरी करने के लिए मजबूर हुआ है तो उसे नाम देकर समाज में सम्मिलित से भीने आपक बना दिया जाय। इन दोनों रास्तों में जीमता रास्ता अधिक व्यापक और अधिक उही है। यह सोचना चाहिए। बाहिर हमारी मॉरिज तो मनुष्य को सुधारने की ही है। उस खोरे के हृदय को बरतन की ही है। हम मार-पीट के द्वारा उसका हृदय बरतने की कोशिश करते हैं। तो क्यों नहीं जीमता ही प्रत्यक्ष हृदय बरतने की कोशिश की जाय ? देड़ हाथ के नाम पकड़ने की क्या आवश्यकता ?

अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्न



आज राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों के ही पूरी हिंसा का सहारा दिया जाता है। एक-दूसरे पर आक्रमण होता है। पर-दूसरे के विरुद्ध प्रेमवर्षा होती है। एक दूसरे के विरुद्ध सामाजिक तैयारियाँ होती हैं और किसी उम्मेद के लिए जल पर कुछ भी छिड़ जाता है। फिर सारे प्रकार के कुछ के विचारों आवाज कटती है। सब सम्बन्धित

राष्ट्रो को सन्धि या समझौता करने के लिए मजबूर होना पड़ता है। आखिर कोई-न-कोई समझौते का रास्ता निकाला जाता है। ऐसा अनेक अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों के साथ हुआ है। कोरिया में, हिन्द-चीन में, लाओस में इत्यादि अनेक स्थानों में युद्ध प्रारम्भ हुए और आखिर में समझौता किया गया। स्वेज नहर के मामले को लेकर ब्रिटेन और मिश्र के बीच झगडा हुआ। फिर समझौता किया गया। इस तरह के कितने ही प्रश्न हैं। तब हमें इन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिज्ञों पर हसी आती है। पहले युद्ध करना, फिर समझौता करना, फिर वात-चीत के द्वारा समस्या का हल करना, यह कहा का रास्ता है? क्यों न विवादास्पद प्रश्नों को सीधे वातचीत के द्वारा ही हल किया जाय?

लोग ऐसा समझते हैं कि हिंसा के रास्ते समस्या पर काबू पा लिया जाता है। किन्तु वस्तुस्थिति इसके सर्वथा विपरीत है। हिंसा से समस्या सुलझती नहीं है, दब सकती है। किन्तु यह दबी हुई समस्या फिर दुगने वेग के साथ उभरती है और अत्यधिक हानिकारक माबित होती है। यह निर्विवाद है कि ससार की आम जनता शांति से जीवित रहना चाहती है। वह रोज-रोज की तनातनी को पसन्द नहीं करती। उसे प्रेम चाहिए, मिश्रता चाहिए और सद्भावना चाहिए। (इसलिए आम जनता की चीज तो अहिंसा ही है) हिंसा तो कुछ चन्द लोगो के दिमाग का फितूर हो सकता है। जिनके पाम फौज है, पुलिस है, ताकत है, सत्ता है, राज्य है आदि। लेकिन जो चीज आम जनता की होती है, वही चीज स्थायी और प्रामाणिक होती है। हम रोज के जीवन में देखें। परिवार के साथ, मित्रों के साथ, गाव के साथ, समाज के साथ हमारे जो सम्बन्ध हैं उनमें हिंसा ज्यादा है या अहिंसा? निश्चय ही अहिंसा ज्यादा है।

जहा कहीं भी थोडी बहुत हिंसा फूटती है, वहा लोग महज ही उसे रोकने के लिए दौड पडते हैं। यदि अहिंसा अव्यावहारिक होती

बीर हिंसा स्थायी होती तो ऐसा कभी न होता। परन्तु बलवन्त स्वाभाविक (बीर दूर्बलता) व्यावहारिक उत्पन्न बहिषा तथा प्रेय ही है।) अगर हमारे जीवन में वह उत्पन्न विकृत मान्य तो हम बलवन्त क्यों बन पायेंगे बीर समाज की घाटी एकठा किल्ल-पिच्छिल होकर दूर जाने दी। मान्य की कुछ भी समाज में ऐसा बीर उत्पन्न है वह बहिषा के कारण ही है। हिंसा पशुता का अन्तर्गत है। क्यों-क्यों मनुष्य पशुता से मनुष्यत्व की बीर बढ़ता है त्यों-त्यों उसके जीवन में है हिंसा दृष्टी वाली है बीर सांस्कृतिक चेतना का विकास होता जाता है। बहिषा मानवता के सांस्कृतिक विकास की रेश है। परन्तु सांस्कृतिक विकास का जब प्रत्येककरण होता तब मानव समाज में हिंसा के लिए कोई स्वाभाव नहीं छोड़ा। सर्वत्र मान्यता बलवन्त सम्पूर्णता बीर प्रेय से ही समाज का एक किया जायेगा। तब पुच्छित बीर जीवन भी नहीं छोड़ी तब हथियार मान्य के कारणों की नहीं छोड़े तब किसी भी पशु को दूधरे पशु पर आक्रमण का भय नहीं छोड़ा। मान्य की बलवन्त दृष्टिमान्य अपने ही हथियारों के निर्माण पर बीर जीवन की ठपारी में खर्च हो जाता है वह दृष्टिमान्य तब मान्य के सांस्कृतिक साहित्यिक एवं सांस्कृतिक विकास के कार्यों पर खर्च होता।

प्रमाणता की बात है कि मान्य के अनेक वैज्ञानिकों ने बीर विचारकों ने इस बात के महत्त्व की समझ किया है बीर इतिहास्य यूरोप जैसे देशों में भी मनुष्यताओं के विकास उत्पन्न हो रहे हैं समझ बन रहे हैं बीर मान्यता मान्य जाते हैं। जीवन को विचारित करके तथा हथियारों की समझ में बढ़कर के मान्य को निर्बंध बना दिया मान्य इस तरह की बातें मान्य के कुछ भी राजनीतिज्ञ की करने लगे हैं। समझ्य निरन्तर ही ऐसी मान्य करनी चाहिए कि बहिषा की व्यावहारिकता पायीं बीर से किन्न होवे वाली है बीर बीर-बीर बहिषा की प्रतिष्ठा बढ़ने वाली है।

इस प्रकार विभिन्न पहलुओं से सोचने पर हम जिस नतीजे पर पहुँचते हैं, वह यही है कि अब संपूर्ण मानव-जाति के लिए सभी प्रकार की समस्याओं के हल के लिए अहिंसा का मार्ग ही सबसे अधिक व्यावहारिक है और यदि इस व्यावहारिक मार्ग को नहीं अपनाया जायेगा, तो समारं वचने वाला नहीं है। क्योंकि आज के विज्ञानवाद ने और आज की टेक्नालाजी ने जिस तरह से शस्त्रास्त्रों का निर्माण किया है और जिस गति से वह आगे बढ़ रही है उसे देखते हुए मानवता का सहारा होने के सिवाय और कोई रास्ता दिखाई नहीं पड़ता। परन्तु यदि मानव समय रहते समझ जायेगा, तो अहिंसा की व्यावहारिकता को स्वीकार करके, हिंसा से अपने आपको विमुक्त कर लेगा तो वह विज्ञान तथा प्रविधि का पूरा-पूरा लाभ उठा सकेगा।



वर्ण-व्यवस्था का मूल रूप

हिंसा के दो प्रकार हैं। अत्यन्त हिंसा और परोक्ष हिंसा। अत्यन्त हिंसा मनुष्य की समझ में आती जा जाती है। एक छत्रिपवाने बीसों ने केसर बांध इन्डिय बाके बीसों तक हिंसा कर और कैंटे हुए, एकका बाह्याली से पता चक सकता है। किन्तु परोक्ष हिंसा का रूप बहुत सूक्ष्म व्यापक और दुःख है। जब और पुरुष व्यापक भी नहीं जाता। परोक्ष हिंसा की बहुताई को समझना अत्यन्त आवश्यक है। परोक्ष हिंसा को हम सामाजिक हिंसा कह सकते हैं, जिसमें बीसों की हत्या नहीं होती परन्तु सामाजिकता के वातावरण में व्यवधान पैदा होता है। सामाजिक हिंसा एक बड़ा-सा घन्ना उत्पन्न होता है। किन्तु हिंसा के विविध रूप हैं और अल्प-बहुल वसतिगत प्रकार हैं। हम यही-यही बहुताई से चिन्तन करने लगे-लगे हिंसा-अहिंसा के सूक्ष्म एवं व्यापक रूप प्रपट होते कार्यरत हैं।

समाज और सामाजिक जीवन क्या है? समाज कैंटे बना है? जीवन के दुःखों की समाज नहीं रहते बनानी ईदों का परचों का दर भी समाज नहीं कहलता। सभी कृषे सडक बाधि का भाव भी समाज नहीं है। समाज एक-एक व्यक्ति का सम्मिलित समुदाय है। उसे मानव-समुदाय कह सकते हैं। जब मानव समुदाय में आपसी व्यवहार पैदा हो आपसी सम्बन्ध बनुर हों या नहीं एक बाधि का दूसरी शक्ति के साथ एक वर्ष का दूसरे वर्ष के साथ एक पाँच का दूसरे पाँच के साथ कही बुधा और होय का सम्बन्ध ही नहीं चक

रहा है ? इस प्रकार की सामूहिक या समूह-विशेष के प्रति चल रही घृणा सामाजिक-हिंसा कहलायेगी ।

जातिवाद



विश्व के जितने भी मनुष्य हैं, वे सभी मूलतः एक हैं । कोई भी जाति अथवा कोई भी वर्ग मनुष्य जाति की मौलिक एकता को भंग नहीं कर सकता । आज मनुष्य जाति में जो अलग-अलग वर्ग दिखलाई देते हैं, वे बहुत कुछ कार्यों के भेद से या धर्मों के भेद से बने हैं । यदि उन धर्मों के आधार से बने हुए वर्ग आपस में टकराने लगें या सघर्ष करने लगें तो वह अहिंसा की परिधि से बाहर चला जायेगा । समाज बदलता है, युग बदलता है, परिस्थिति बदलती है । इसीलिए आज जातिवाद का सारा आधार भी बदल गया है । आज सहस्र खंडों में विभाजित मानव जाति पुनः एकता के सूत्र में बधना चाहती है, इसलिए हम यह गौरव के साथ कह सकते हैं कि आज का मानव अहिंसा की ओर प्रगति करना चाहता है ।

वर्ण-व्यवस्था समाज के टुकड़े-टुकड़े करने के लिए नहीं, बल्कि उसमें सुव्यवस्था कायम करने के लिए बनायी गयी थी । ब्राह्मण, क्षत्रीय, वैश्य और शूद्र इन वर्णों का एक मात्र आधार उद्योग, धर्म या कर्तव्य था । समाज की विभिन्न प्रकार की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए ही ये वर्ण स्थापित हुए थे । समाज को शिक्षित करने के लिए ब्राह्मण वर्ग स्थापित हुआ । किन्तु आज ब्राह्मण ऐसा समझता है कि मैं बहुत ऊँचा और पवित्र हूँ । शेष सभी मानव मुझसे नीचे हैं, अपवित्र हैं । ससार के साथ मेरा जो कुछ भी सम्बन्ध है, वह देने का नहीं, सिर्फ लेने-ही-लेने का है । किन्तु वास्तव में इस मनगढ़त सिद्धान्त पर ब्राह्मण वर्ण की स्थापना नहीं हुई थी ।

सैते बड़ी मछली छोटी मछली को निगल जाती ॥ बड़ी अन्धकार, प्रतिभावाण और अतिशक्तिशाली लोग अन्धकारों का पोषण करते करते हैं । (यदि अतिशक्तिशाली लोग अन्धकार और अन्धकार को बड़ी छोड़ते भी हैं तो उनका तराजू अपनी बुद्धि होती है और बाट अपने स्वार्थ का होता है ।) अपनी बुद्धि के तराजू में अपने स्वार्थ के बाटों के छोड़ने वाले अन्धकार और अन्धकार को सब समझ सकते हैं ? अतिशक्तिशाली और अन्धकारवादी व्यक्तियों के हाथों से यदि अन्धकारों और अतिशक्तिशाली मनुष्यों का पोषण होता रहा तो वह मानवों का नहीं बल्कि राज्यों का हानि होना । अतिशक्तिशाली द्वारा निर्बलों का उत्पीड़न न हो उन्हें भी जीवन रखने का अधिकार मिले उनको भी प्रभुत्व प्राप्त हो सके । इस प्रयोजन के अन्धकार वर्ष की स्थापना हुई । अन्धकार वर्ष और अन्धकार बुद्धिवादी राजा अन्धकारों में बैठकर देख-भाल करने के लिए नहीं था । अन्धकार इस लिए था कि देश के किसी भी कोने में सब अन्धकार हो और कोई एक नहीं किसी दूसरे वर्ष द्वारा कुछका बाटा हो तो अन्धकार अपने आर्थों की बाहुल्य लेकर भी राजा का अन्धकारवर्ष बन करे ।

अन्धकार वर्ष की स्थापना बुद्धिवादी का पोषण करके अपने ही देश को छोड़ देने के लिए था अपनी ही सेवा करने के लिए नहीं हुई थी । अन्धकार के जीवन-निर्वाह की आनंदी अन्धकार बुद्धिवादी के अन्धकार होती रहे, अन्धकारवादी की अन्धकार वस्तु अन्धकार बुद्धिवादी के आर्थ विच्छेद रहे, इसके लिए अन्धकार वर्ष कायम हुआ । इस अन्धकार वर्ष का अन्धकारवर्ष के आर्थ वापस करने के बाद अपने और अपने परिवार के लिए वह अन्धकार वाणिज्यिक के अन्धकार था । अन्धकार वापस तो अन्धकार वर्ष पोषण का वापस बना हुआ है । अन्धकार और अन्धकार के बीच अन्धकार बना हुआ है ।

शूद्र वर्ग का कार्य भी बहुत महत्वपूर्ण था । समाज की सेवा करना, उसका कर्तव्य था । शूद्र वर्ग की स्थापना में किसी भी प्रकार की मानसिक सकीर्णता तथा हीन-भावना काम नहीं कर रही थी । यदि वर्ण-व्यवस्था कायम करते समय शूद्र वर्ग को किसी भी अंश में हीन माना गया होता तो फिर कौन इस वर्ण व्यवस्था में सम्मिलित होने को तैयार होता ? जैसे अन्य वर्ग समाज की सुविधा के उद्देश्य में कायम किये गए थे, उसी प्रकार यह वर्ण भी समाज की सुविधा के लिए ही बनाया गया था ।

कर्तव्य पराङ्मुखता



आज ब्राह्मण समाज इस बात को तो बड़े गौरव के साथ दोहराता है कि हम ब्रह्माजी के मुख से पैदा हुए हैं । किन्तु इसके वास्तविक रहस्य को समझने का स्वप्न में भी प्रयत्न नहीं करता । इसी तरह क्षत्रीय, वैश्य और शूद्र भी अपने-अपने दायित्व को नहीं समझ रहे हैं । ब्राह्मणों का कर्तव्य है कि वे ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न होने के कारण आत्म-विद्या और आत्म-ज्ञान का प्रचार करें, उपदेश करें, अध्ययन करें । उसी तरह क्षत्रियों को चाहिए कि वे अपनी भुजाओं द्वारा अस-हायों, असमर्थों और दीनों का संरक्षण करें । वैश्य समाज का कर्तव्य है कि वह उदर से उत्पन्न होने के कारण कृषि, वाणिज्य तथा उद्योग के द्वारा मानव समाज की रोटि की समस्या का हल करे । इसी तरह शूद्र वर्ग की भी यह जिम्मेवारी है कि वह समाज सेवा का वृत्त ग्रहण करके अपनी सेवा से समाज को सुखी एवं स्वस्थ बनायें ।

अन्याय



आज शूद्र वर्ग के साथ जो अन्याय हो रहा है, वह देखकर हृदय

उठाने लगता है। पूरा वर्ष के बीच तो दिन भर कड़ी मेहनत कर के समाज की सुविधा-से-सुविधा सेवा करते हैं और समाज के बीच उन्हें पास बैठना भी नहीं चाहते। आत्मदर्श की बात है कि कोठरों में कुत्ते और बिल्ली को तो बचहूँ मिक जाती है किन्तु मानव-वेह-वादी बूढ़ की यह हक हाथिक नहीं है। ईशान को ईशान के पास बैठने का भी हक नहीं है। वर्ष-स्वान में भी हरिजन को प्रवेश करने का बारी पूरी तरह से कुत्ते बाघ बहिनार नहीं मिका है।

एक बूढ़ माग लीजिये कि किसी वर्ष-स्वान में बहूँचा तो का तो नहीं उठे प्रवेश ही नहीं मिलेगा का फिर कौन बाहर ही स्ने रहने ॥ लिए कहा जायेगा। किन्तु कौन भी वर्ष-स्वान में बैठकर आत्मनिष्ठ करने का अधिकार है ऐसा नहीं माना जाता। वह बेचाप नीचे बैठकर वर्ष-प्रवचन सुनता है और अन्य तथाकथित सबकी बीच मन्दिर में बैठे है। हालांकि जो हवा उसे झुक कर जाती ॥ वह उन सबकी बीचों को भी कपटी है। तो फिर उपाय ही क्या है ? जब हवा ही हमें प्रवचन कर रही है, तब फिर कहाँ क्या रहेगा ?

इस कष्टोन्मत्त युव की देखकर हमने प्रबल किया कि हरिजनों को भी सर्व साधारण के पास ही बैठने की बचहूँ मिलनी चाहिए। एक हरिजन तो बरखाबे के पास बूटी के किनारे खड़ा रहे और दूसरे बीच अपने की बहुत बड़ा मालमर बरिबों पर बैठें वह ठीक नहीं। आज के इस प्रवर्तितानी युग में जो ऐसे सक्तीय बीच देखे दये है कि यदि हरिजन आज और सन्त के पैर छू गया तो फिर वे कब बढ़े ही बहना कर बैठे हैं और छात्र के पैर नहीं छूते। इस मन की संकीर्णता में वह चितनी बुरी तरह से जकड़ा हुआ है। [अपमान महावीर के इस संकीर्णता को मुक्तमाने का प्रबल किया का केकिम मे पुर्नतः बहक नहीं हुए। उनके बाद आई हथार वर्ष की कम्भी बरिपरा पुनरी और

आचार्यों ने अस्पृश्यता का समय समय पर तीव्र विरोध भी किया। फिर भी वह उलझन आज तक बनी हुई है। दुर्भाग्य से कई, ऐसे भी साधु आये कि जिन्होंने जनता की रुढ़िवादी आवाज में अपनी आवाज मिला दी और अस्पृश्यता को प्रोत्साहन दिया। एक दिन जैन सस्कृति को जातिवाद के निरसन के लिए घोर मघप करना पड़ा था और नास्तिकता का उपालभ सहकर भी उसने जातिवाद का विरोध किया था। दुर्भाग्य से आज वही पवित्र सस्कृति-घृणित अस्पृश्यतावाद की दलदल में फस गयी। यहाँ तक कि अस्पृश्यता के पक्ष में शास्त्र के प्रमाण भी आने लगे। कहा जाने लगा कि जो नीचा है वह अपने अशुभ कर्मों का फल भोग रहा है।

एक ही जाति



वास्तव में जैन सस्कृति तो एक ही मनुष्य-जाति स्वीकार करती है। मनुष्यों में दो जातियाँ हैं ही नहीं। मानव को देखते ही हम यही समझते हैं कि वह एक मानव है, वह शूद्र है या ब्राह्मण है या क्षत्रिय है, ऐसा बिना परिचय के तुरन्त मातृम नहीं होता। स्वाभाविक रूप में जितना मालूम होता है उतना ही वास्तविक है। उसके अलावा जो कुछ भी जातिवाद के प्रपच रखे गए हैं वे अवास्तविक हैं और सकीर्णता के द्योतक हैं।

हमारी मध्यकालीन सस्कृति में कुछ ऐसी जड़ता आ गयी थी कि वह सब जगहों से हटकर एक मात्र भोजन के स्थान में बन्द हो गयी। न जाने यह झूठ किसने फैला दिया कि अमुक का छुआ खा लेने से धर्म चला जाता है। एक ओर तो भारतीय सस्कृति अद्वैत की उपासना करती है। बड़े-बड़े आचार्य, वेदात-शास्त्रियों के माध्यम से जनता के सामने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं कि ब्रह्म एक है और हमें जो

कुछ भी दिखाई दे रहा है, वह सब ब्रह्म का ही रूप है। लेकिन हमारी तरफ हम ब्रह्म के ही रूप का जब वह रूप घूर्ण या नीच भाँति का भाषा पड़ना कर जाता है तब हृत् उनमें गुना भरते हैं। वेदादि वो कहता है कि पानी से बने हमारा बने रहते हैं। उनमें कुछ होने के हैं कुछ चारी के हैं, कुछ हमारी चातुर्भों के हैं। परन्तु उन सब में भी सन्तुष्टता का प्रतिबिम्ब तो एक समान ही पड़ता है। इसी प्रकार ब्रह्म के सभी पद्यों में ब्रह्म का ही प्रतिबिम्ब पड़ता है।

हमारे कुछ प्रवर्तित विचार-धर्म जब कभी सर्व-सम्बन्धी बाड़े मुनते हैं और हमारे के साथ मानव-संस्कृति पर विचार-विनिर्णय करते हैं, तब ऐसा वाक्य पड़ता है कि सत्त्वा ब्रह्म-ज्ञान सत्त्वा की मित्र बना है। किन्तु जब ज्ञान-दान की बात सामने आती है, तब हमारा ब्रह्म-ज्ञान न जाने कौनसी कबल में घुब जाता है। इस प्रकार एक वर्ग से दूसरे वर्ग या एक समूह से दूसरे समूह के प्रति गुना प्रवर्तित की जाती है तो वह सामाजिक हिंसा होती है।

जहरीले कीटाणु



बनती गठियों की जाहू वह एक हो वा एक हवा, इसके सामने हमें स्वीकार कर केना चाहिए। वातिवाह की विना जानेवाला शीतल-हम अनुचित है। और इसलिए पीड़ितों से होने वाली अपनी इस पक्षी की हम स्वीकार कर दें और उसे सुधारने की कोशिश करें यही हमारा कर्तव्य है। क्योंकि वातिवाह ने हमारे शरीर की छोटे छोटे कणों में बाँटा है। अगर हम इस मिश्रित हवा एवं दूरे हुए शरीर को फिर से अलग बनाना चाहते हैं तो हमें उसके लिए कुछ-कुछ त्याग करना ही पड़ेगा। वातिवाह का प्रत्यक्ष रूप बनकर वायु

मारे समाज को तग कर रहा है। इसलिए वर्ण-व्यवस्था के सिद्धान्त को समझते हुए भी हमें आज तो जातिवाद का निरसन करना ही होगा। क्योंकि जब तक जातिवाद के जहरीले कीटाणु समाज में फैले हुए रहेंगे तब तक मानवता चिर-भुग्नित नहीं रह सकती।

एक ओर जब हम सांस्कृतिक सौहार्द का दृष्टिकोण बनाने जा रहे हैं तब दूसरी ओर हमारा यह सकीर्ण मनोभाव ठीक नहीं है। क्या दोनों विचारों में अंश मात्र भी सामंजस्य है? अगर हम सांस्कृतिक सौजन्य के आधार पर तथा त्याग और सहयोग के आधार पर जीवन को मुख्यवस्थित करें तो दोनों प्रकार के विचारों को हम गहराई में समझ सकेंगे और उसमें से जो उपादेय है, वह ग्रहण कर लेंगे। नरक और स्वर्ग की बातें करने वाले ही बगल में बैठे इन्सान को अपनाने में हिचक कर जाते हैं। उसको तो सामाजिकता के नाते और मानवता के नाते गले लगाना चाहिए। यदि उस मनुष्य को देखकर आपके हृदय में मात्त्विक स्नेह की जागृति नहीं होती तो ऐसा मानना चाहिए कि अहिंसा और धर्म के प्रति आपका सच्चा अनुराग जागृत नहीं हो रहा है। उदार और व्यापक दृष्टिकोण के लिए हरिकेशदास और मेतार्य मुनि की कथाओं के रूप में जैन मठ का अतीत बहुत गौरवपूर्ण रहा है और जातिवाद का विरोधी रहा है। हमें अहिंसा के व्यापक स्वरूप की ओर अब ध्यान देना चाहिए और मानसिक कालुष्य में ऊपर उठकर जीवन के सम्बन्धों को स्थिर करना चाहिए।

जातिवाद का भूत



हिंसा एक प्रकार के अन्धकार है। यह अन्धकार आज जीवन के अत्येक क्षेत्र में फैला हुआ है। मनुष्य अपने सही मार्ग को पहचानने में कठिनाई महसूस कर रहा है और इसीलिए वह परेशान भी है। जैसे रात्रि के समय घर में चोरों के चूम जाने पर घर वाले बचने के लिए तो दरवार खोलते हैं औरों से लेकिन जाधिया बरसाने लगते हैं अपने ही घर बाकी पर। अन्धकार में अपने-पराये का कोई भेद बालूब नहीं होता। अहिंसा इस अन्धकार में प्रकाश की रेखा बनकर खड़ी है। यह अन्धकार हमें सड़ के कटवलों में बांध देता है लेकिन अहिंसा छिर से इन कटवलों को तोड़कर हमें एकता के नुब में पिरो देती है। यह मनुष्य-जीवन एक कुर्लक वस्तु है। जना इस जीवन की और मनुष्य समाज की कठिनाई नहीं होने देना चाहिए। यदि हम मनुष्य बनकर भी मनुष्यता के मूल्य को एक मनुष्य समाज के महत्त्व को नमस्त नहीं करने तो यह हमारे लिए अन्धकार कुर्लीय की बात होगी।

धर्मधर्मों ने मनुष्य को बहुत ऊंचा स्थान दिया है। 'भुक्तं ब्रह्म तस्मिन् ब्रवीमि नहि मानुषान् श्रेष्ठतरं हि किंचित्।' यह धारणा का वाक्य है। धर्मधर्म कहता है कि जो मानव जाती तुम्हारे पास में है एक रहस्य की बात कहना है। यह रहस्य ब्रह्म का रहस्य है। यह रहस्य क्या है? नहीं कि इस दुनिया में मनुष्य के बचकर श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है।

जब मानव अपने आप में इतना श्रेष्ठ और ऊँचा है, तब फिर उसमें ऊँच-नीच या छोटे-बड़े का सवाल खड़ा करना और उस आधार पर जातिवाद का निर्माण करना निहायत मूर्खता ही है। हमें समझना चाहिए कि मनुष्य का मनुष्य के प्रति कैसा व्यवहार हो। यदि इन्सान के साथ व्यवहार करने का तरीका नहीं आता है, तो हमारा शरीर भले ही इन्सान का हो, इन्सानियत के गुण हममें नहीं मिल सकेंगे, क्योंकि घृणा, द्वेष, अहंकार, ये सब पशुता की भावनाएँ हैं, मनुष्यता की भावना तो आदर और नम्रता में प्रगट होती है।

ऊर्ध्वगति



मानव सदा ऊपर की ओर गति करता है। वह आगे बढ़ना चाहता है। नाना प्रकार के पुरुषार्थ कर के वह अपने जीवन में विकास के मार्ग ढूँढ़ता है। यदि हम ऐसा मान लें कि कोई व्यक्ति जन्म से ही ऊँचा है, या अमुक जाति में जन्म लेने से ही महान है, तो हम इस चिरंतन पुरुषार्थवाद के साथ खेल करते हैं। यदि समाज में पुरुषार्थ नाम का तत्त्व न हो, तो समाज टिक ही नहीं सकता। जातिवाद पुरुषार्थ का विरोधी है। अमुक जाति में जन्म लेने से ही ऊँचा हो गया हूँ, फिर मुझे पुरुषार्थ करने की क्या जरूरत है? मैं तो सबके लिए पूज्य हूँ, महान हूँ, उपदेशक हूँ, ऐसी भावना जिस व्यक्ति के हृदय में उत्पन्न हो जाती है, वह व्यक्ति मानवता के सद्गुणों का विकास करने के लिए किसी भी तरह का प्रयत्न नहीं कर सकता। वह आलसी बन जाता है। निष्क्रिय बन जाता है। और अपने जीवन की ऊर्ध्वगति को कुण्ठित कर देता है।

एक कवि है, दूसरा लेखक है, तीसरा वक्ता है, चौथा साधक है, पाँचवा आत्म-चिन्तक है। ये सब अलग-अलग सद्गुण किमी जाति

से सम्बन्धित नहीं हो सकते । उसके लिए साधना की आवश्यकता होती है । बिना साधना के अगर कोई केवल बलि ब्रह्मा या भेता बन सकता हो तब तो कहना ही क्या ! केवल यह अस्वाभाविक ॥ । ब्रह्म के साथ कोई भेता बनता या विचारक बनकर नहीं आता । इस प्रकार के अन्धवश संस्कार तो ब्रह्म से ही प्राप्त हो सकते हैं । परन्तु विशेष संस्कारों का विनाश तो पुनर्पार्थ से ही होता है ।

शास्त्र के ग्राह्य ब्रह्म केने माय से पवित्रता प्राप्त हो पाय और जीव कुछ में ब्रह्म केने माय से जीवत्व विक्रय पाय तो फिर नैतिक पवित्रता के लिए जीव प्रयत्न करेगा ? यदि जीव के बाहर बड़े दूर आकर के पीछे की दृष्टियों पर ही बाहर वा कला विक्रय पाय तो नहीं पावों को जीव जीव ? सर्वज्ञ पर बाहर जीव ठोकरें खाये ? पुर पार्थ के विना ही यदि इच्छित ब्रह्म विक्रय सकती हो तो कोई क्यों पुनर्पार्थ करे ?

कसौटी पर



इस प्रकार वह धार्मिक दृष्टिकोण के और वृद्धि की गद्योटी पर बहकर के इस प्रश्न को हल देकर है तब वह आकाशी से उभरते में आ जाता है कि ब्रह्म-ब्रह्म के जीव में कोई भेद-भाव नहीं है । जो सर्व-व्यवस्था कायम की गयी है वह केवल उभरते को मुख्यस्थान तथा पुनर्गठित करने के लिए ही कायम की गयी है । बाह्य प्राप्ति के बाह्य पर अपने आपकी ऊँचा घमसने बाह्यों ने जब पर, कला पर विद्या पर और विविध प्रकार की सभी आध्यात्मिक सुविधाओं पर कम्पा कर रखा है । वे अपने स्वार्थ को जीवित रखने के लिए, नहीं बाह्य रि छोटी प्राप्ति के लोभ जाने बाह्य और ऊपर बैठें । वे अपनी दुष्कृत को और अपने अधिपतियों की उदात्तता के लिए कायम रखना

चाहते हैं और छोटी जातियों के अथवा नीच कहलाने वाले वर्णों के लोगों का शोषण करते रहना चाहते हैं। तभी आज हम देखते हैं कि शूद्र वर्ण के लोग बहुत दुर्गामी, गरीब और अज्ञानी हैं। उन्हें आनन्दपूर्वक जीने का अवसर नहीं है, न उन्हें पूर्णरूपेण प्रगति करने का अवसर भी उपलब्ध है। ऐसी दशा को देखकर हृदय में बड़ी खिन्नता एवं चिन्ता उत्पन्न होती है। अगर यही गिलसिला जारी रहा तो शूद्र वर्ण के लोगों का भविष्य बहुत अन्धकारमय प्रतीत होता है। हालांकि शूद्रों के हित में अनेक कानून बन गये हैं, अनेक सस्थाएँ बन गयी हैं और वे कानून तथा वे सस्थाएँ शूद्र वर्ण के लोगों की रक्षा का और उनके हित-साधन का दावा करती हैं। परन्तु ये कानून और सस्थाएँ अधिकतर जवानों जमा खच और कागजी कार्यवाहियों में ही व्यस्त हैं। आज भी समाज के प्रमुख पदों पर या शासन में या व्यापार में या उद्योग-धन्धों में उच्च वर्णों के लोगों का ही अधिकार है। जब तक वास्तविक जीवन में समानता का भाव नहीं आयेगा, तब तक केवल कानून कितानों की धरोहर बन जायगा। और ये ऊँचे नाम वाली सस्थाएँ इतिहास की कहानी मात्र बन जायेंगी। -

स्पष्टतः अब यह घोषित करना होगा कि कोई भी व्यक्ति जन्म से पवित्र या श्रेष्ठ नहीं है। और न जन्म से अपवित्र तथा नीच है। जिसका आचरण उत्तम है, जिसकी बुद्धि और भावना उत्तम है, वही श्रेष्ठ है। जो इस तत्त्व को नहीं मानता और मानव-मानव के बीच भेद-भाव खड़ा करता है, वह सामाजिक हिंसा का भागी है और यह हिंसा किसी भी जीव को मारने की हिंसा से कम मर्यादक नहीं है। जब तक सामाजिक हिंसा का यह स्रोत बन्द नहीं हो जायगा, तब तक अहिंसा के क्षेत्र में उल्लेखनीय प्रगति नहीं हो सकेगी। अहिंसक समाज-रचना के मार्ग में जातिवाद और वर्णवाद एक भयंकर रोड़ा

है। इस रीते को हटाने के लिए व्यक्तियों के मस्तरों को बदलना होना और बाएँ और से सामाजिक तथा सांस्कारिक चाति का मारा पुनर्ग करना पड़ेगा। अमर हम चाहते हैं कि अहिंसा का अछतन बिस्तेपक हो और मानव-बीदन से जहा-जहा हिंसा के कीटाणु व्याप्त हैं जहा-जहा अहिंसा के हथियार का प्रयोग बिना काय तो हमें र्ध व्यवस्था की इस दक्ष माण्यता पर सबसे पहले प्रहार करना होना तथा मानवता की एव सम्पूर्ण मनुष्य जाति की एकता के सूत्र में पिरोने का अनुष्ठान करना होना। यदि हम मान के रुद में भी अहिंसा की स्वादका के लिए समर्थ नहीं होते हैं और चातिवाद का निरसन करने के लिए जाने नहीं जाते हैं तो हमारा अविष्य कुछ बन नहीं हो सकेगा।



मानवता का भीषण कलंक



जीवन है, समाज है और राष्ट्र है। इन तीनों का एक दूसरे के साथ बहुत गहरा सम्बन्ध है। वैयक्तिक, सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन के विविध रूपों में मानव अपनी भावनाएँ क्रिया के रूप में अवतरित करता रहता है। वे भावनाएँ हिंसा और अहिंसा के रूप में असंख्य भेदों के साथ प्रगट होती हैं। जिस किसी भी क्षेत्र में या जिस किसी भी ढंग से, जो भी ज्ञात या अज्ञात, सूक्ष्म या स्थूल, बाह्य या आन्तरिक हिंसा होती है, वही मानव का सदैव एक चाहता है कि हिंसा का स्थान अहिंसा ग्रहण कर ले। अहिंसा के द्वारा ही व्यक्ति, समाज और राष्ट्र का त्राण सम्भव है। इसलिए मानव हर स्थान पर हर रूप में और हर क्षेत्र में हिंसा को पद्दलित करना चाहता है और अहिंसा को प्रोत्साहित करना चाहता है।

जो हिंसा क्रोध, मान, माया, लोभ एवं वासना के रूप में मानव मन के अन्दर-ही-अन्दर आग की तरह सुलगती रहती है, वह आन्तरिक हिंसा है। इस हिंसा के माध्यम से हम किसी दूसरे की हत्या नहीं करते, बल्कि अपने ही अभद्र सकल्प से अपनी ही हत्या करते रहते हैं। आत्म-हत्या का अर्थ बन्दूक या पिस्तौल से, जहर खाकर या कुएँ में गिरकर मर जाना ही नहीं है। वह तो शरीर की ही हत्या है। किन्तु मनुष्य जब अपने सद्गुणों की, सद्बिचारों की और सद्बृत्तियों की हत्या करता है, तो वह अधिक भयंकर आत्महत्या होती है।

मानव-जीवन के साथ वही तक कामरता करनेकी वहा तक बहु पठित होमा और सङ्गुतियो से भ्रष्ट होमा । कामरता और धन ही मानव-जीवन के पतन का कारण है और हिंसा में केवल कामरता ही होती है औरता नहीं । जो मानसी करता है धन खाता है और अपने को दान के लिए या अपनी कुसङ्गुतियो को बढ़ावा देने के लिए दूसरों पर जोर करता है । दूसरों को बचन कहता है या दूसरों को मार काकता है वह मिहामुद्र करोक है और कामर है । विरुद्धे दुष्य मे वन नहीं है, विरुद्धो अपने जीवन की रक्षा का भार परेशान नहीं करता वह अपने प्राण रिकर की दुमरी की रक्षा करने के लिए उत्तर रूता है । इसलिये वह और है और वही अहिंसा भी है ।

अन्य



कभी-कभी ऐसा होता है कि अनन्य हन कामरता की बीरता समझ लेते हैं । इसका ही नहीं बल्कि वह अन्य वन की इस तरह बर्णन केता है कि हन हिंसा की भी अहिंसा का नाम दे लेते हैं । यही कारण है कि दूसरों की हत्या करने वाले या दूसरों की हिंसा करने वाले और कहनामे अमृत है और वन के नाम पर आदि-गति के नाम पर सम्प्रदाय है । नाम पर होने वाली हिंसा की भी अहिंसा मझ किया जाता है । इस प्रकार अहिंसा और हिंसा सम ही वन-वर्धन केनेक बार पैदा होती है । किन्तु मानव अपने विवेक से नाम केता है और हन एकजनी की मुक्तता केता है । यही वही अपनी बुद्धि और अपना विवेक महारा नहीं देता वही वह इतिहास का वन-वर्धन का अथवा आधीय पानकों का लहरा के केता है । पानन विनन य लहरा हो वनते है । किन्तु अहिंसा ही मानव को अपने विवेक का निर्धन ही रर्धनार करमा

पढता है। क्योंकि शास्त्रों का भी एक कोई निश्चित फलितार्थ कहा है ? प्राचीन काल से ही पंडित लोग शास्त्रों का अनेक प्रकार से विश्लेषण करते हैं और मानव को अनेक विभिन्न विचित्र परिभाषाओं में उलझा देते हैं।

आज हिंसा का जो रूप बना है, वह रूप पहले नहीं था। जो हिंसा सामाजिक और सामुदायिक क्षेत्र में ज्यादा भयकर और व्यापक हो रही है, उस सामाजिक और सामुदायिक हिंसा को बहुत-से लोग हिंसा ही नहीं समझते। एक अखंड मानव-जाति अनेक जातियों एवं उपजातियों में बंट गयी है। उसके असंख्य टुकड़े हुए हैं। उन टुकड़ों को कोई गिनना चाहे, तो शायद अच्छी तरह से गिन भी नहीं सकेगा। पिछले अध्याय में हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि जाति एवं वर्णों के नाम पर किस तरह ऊँच-नीच की चौड़ी खाई खोदी हुई है। ये खाईया उसी तरह मानव-जीवन को कण्ट पट्टुचाती हैं जिस तरह पैर में घुसा हुआ और दिखाई न देने वाला काटा सारे शरीर को पीड़ित करता रहता है।

ये भेद-प्रभेद कभी-कभी धर्म और इज्जत का प्रश्न सामने रखकर भीतर-ही-भीतर जल उठते हैं और फिर विस्फोट के रूप में बाहर भी फूट पड़ते हैं। इस विस्फोट में विद्वेष की आग सुलग उठती है। इस आग में बड़े-बड़े विचारक और समझदार आदमी भी अपनी जाति व संप्रदाय का स्वाभिमान बचाने के लिए हिंसा लेने लगते हैं, भले ही वे विवश होकर ही हिंसा लेते हों।

रोग



हम देखते हैं कि खंडित सामाजिकता का भाव यानी जाति पाति, ऊँच-नीच आदि का रोग ऊपर से नीचे तक फैल गया है। जिन्हें ऊँच

बाधि के बीच बन्दख की निगाह है देखते हैं, वे भी कूट बकूट के चेहरे
 रात्र से बरे हुए हैं। बड़े छोटी बाधियों से नृणा कण्डे हैं परन्तु वे
 छोटी बाधिया भी अपने से छोटी समझी जाने वाली बाधियों से उतनी
 ही नृणा कण्टी हैं। ऐसी स्थिति में इस रोग की दूर करने के लिए
 बहुत बड़ी बाधि की अपेक्षा है। पापी की भी इसी प्रश्न को मुकद्दाले
 के लिए अपना अधिकार देना पड़ा। भोक्ते के पाप बलान कोई अति-
 बल देव नहीं था क्योंकि बन्धु ने मुसकमानों को भी हिन्दुओं जितना
 ही प्यार किया इसलिए कान्हे मार डाला गया। इस प्रकार के बलि
 दान हमारे अनेक पूर्वजों को भी मिले पडे हैं।

बाधिवश वर्णक सम्प्रदायपरत और समूहवश की हिता पूटती
 है वह मनुष्य को मनुष्य के रूप में न देखकर नृणा और देव की
 संकुचित दृष्टि है देखती है। कभी-कभी मनुष्य अपनी इन संकुचित
 दृष्टियों को दैनिक जीवन के व्यवहार में भी प्रयत्न कर देता है और जब
 कारण से वह अपनी व्यवस्थित नीतिवश परंपराओं को तोड़ डालता
 है। एक बालक ठोकर खाकर रास्ते में पिर पड़ता है तो वह तमस
 कलितस्त बाधिवशी लोक यह सोचने लगते हैं कि अगर वह बच्चा
 किसी हरिजन बाधि का या गौरी बाधि का हो तो इसे नहीं ठगना
 चाहिए। वह किसी निर्बलता की बाधना है? जिसके हृदय में बोझी
 सी भी कबला होनी दया होनी वह बिना किसी तरह का विचार
 बिने उस बच्चे को दुरन्त उठा लेता; क्योंकि वह तो मानवता का
 परम कर्तव्य है।

जैन धर्म के हर्षिकेयी मुनि की एक प्रेरणाप्रद कहानी बाठी है।
 वह कहानी जैन साहित्य की अनूत्य निधि है और इस कहानी को
 पढ़ने से ऐसा लगता है कि हमारे पूर्वजों ने वे पकड़िया नहीं की थी
 गलतिया बाध हम कर रहे हैं। हर्षिकेयी मुनि खेन्ठ मुनि के बारह

इंद्रियो पर विजय प्राप्त करने वाले और महान् आदर्शवादी भिक्षु थे । उनके गुणों का उल्लेख करते हुए शास्त्रकार इस बात का भी उल्लेख करते हैं कि हरिकेशी मुनि चाटाल कुल में उत्पन्न हुए थे—वल्कि शास्त्र में सबसे पहले इसी बात का उल्लेख किया गया है ।

सोवाग कुल समूवो गुणुत्तरधरो मुणी

हरिएसबलो नाम आसी भिक्षु जिइदियो ।

यह उल्लेख हमें शास्त्रकारों के हृदय तक ले जाता है । इस कहानी को समझने के लिए हमें उस युग की परिस्थितियों को भी समझना चाहिए और इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि जिस जमाने में जातिवाद अत्यंत भयंकर रूप में फैला हुआ था, उस समय भी जैन शास्त्रकारों ने चाटाल कुल में उत्पन्न मुनि का गुणानुवाद किया है । जीवन-यात्रा में कभी-कभी बड़ी अटपटी घटनाएँ आती हैं । सावधान रहने पर भी मनुष्य ठोकर खा ही जाता है । किन्तु सच्चा वहादुर वही है जो गिरकर भी उठ खड़ा होता है । हरिकेशी मुनि उन्हीं वीरों में से एक थे । उन्होंने अपने जीवन को एव आत्मा को सभाला और वे अत्यन्त महान् व्यक्तित्व वाले मुनि बन गये । जब वे गृहस्थ थे, तब चारों ओर से उन्हें अनादर मिला । किन्तु जब उन्होंने अनादर का घूट पीकर अपने मन को स्थिर किया तो वे श्रेष्ठ गुणों को धारण करने वाले जितेन्द्रिय भिक्षु बन गये । भगवान् महावीर स्वयं कहते हैं कि जाति की कोई विशेषता नहीं है । तपस्या की ही विशेषता है । जीवन की पवित्रता व साधना ही मानव को विशिष्ट बनाती है । जाति तो केवल अहंकारजन्य विकार है । इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हरिकेशी मुनि हैं । चाटाल का लड़का भी कितना ऊँचा उठ सकता है, यह हरिकेशी मुनि ने अपनी उत्कृष्ट साधना से साबित कर दिया । उनका आध्यात्मिक तेज और उनका विमल यश चारों ओर

म्यान्ड हुआ। चीन सासनों की इसी सघोट आवाज को सुनकर भी यदि हमारे कठिन्मन समाज के लोग अपनी बाँहें नहीं खोदते तो उसके बिना कोई उपाय नहीं है।

अन्य उदाहरण



बाहिर कर्ष की तो सूर्यमुख से। किन्तु अपने पुत्रपार्थ और ब्रह्म के द्वारा उन्होंने अपने जीवन का जो नव-निर्माण किया उससे वे नैतिक-सन्निधि से भी अधिक बलवान् सन्निधि हुए। उन्होंने कहा कि किन्तु मृत के भेग जगत् को यह मेरे हाथ में नहीं था। प्रकृति के हाथ में था। किन्तु पुत्रपार्थ तो मेरे हाथ में है। फिर मैं क्यों न पुत्रपार्थ कर्ष ? मैं जगत् से न सही किन्तु अपने कर्म से सन्निधि बन गया हूँ।

इसी तरह वाकनीकि भी पहिले एक बालू ही तो थे। किन्तु जब उनके हृदय में परिवर्तन आया और जब उनके अन्दर मन में कर्षणा का लम्बा फूटा तो रामायण के अपने एक महाकर्मज ही फूट पड़ा। उनके इस अद्वितीय कर्मज ने सारे समाज की जनसङ्घटन कर दिया।

इन सारे ऐतिहासिक संघर्षों के बाद वह अच्छी तरह प्रमाणित हो जाता है कि बाह्य और कर्ष की साम्यताएँ निर्यात साम्राज्याधिक, अर्थात् और कर्षणाधिक है। बाह्य तो प्रत्यक्ष मानव की साम्यता उदात्त अपने की आवश्यकता है। उदात्ता ही इस युग की सबसे बड़ी शक्ति है। यदि हृदय में उदात्ता न हो तो बाह्य सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन मृदा फलस्रक् ही बन जावेगा।

अभिप्राय नहीं है कि कहा ईश्वर है, ईश्वर है नृणा है और मनुष्य के प्रति बोधी-सी भी ईश्वर मानना है, तो यह हिता है। बाह्य की

साधना के लिए पहले हिंसा के समस्त उपकरणों से मुक्त हो जाना चाहिए । जब हमारा मन, विचार और मस्तिष्क इस बात के लिए राजी हो जायेगा कि हम अनावश्यक सग्रह, लोभ और वासना से नहीं पड़ना चाहिए, तब सहज ही ये बातें प्रकट हो जायेंगी । हिंसा, यानी समाज को खडित करने का विचार और अहिंसा यानी समाज को एक सूत्र में पिरोने का विचार । इन दोनों विचारों में से हमें एक को चुन लेना चाहिए । अगर हम समाज की एकता में और मानव मात्र की एकता में विश्वास करते हैं, तो हमें अहिंसक समाज पद्धति की संपूर्ण कल्पना का चरितार्थ करना चाहिए और उसके लिए मानवता के इस कलक को यानी जातिवाद के पाप को शीघ्र ही धो डालना चाहिए ।

पवित्रता का मूल स्रोत



जीवन की सफ़लता क्या है ? बहुत से लोग जब को पा लेने से सता को पा लेने से सब को पा लेने से बचना इसी तरह के अन्य साधन पा लेने से जीवन की सफ़लता मान बैठते हैं । परन्तु ये सब सफ़लताएं क्षणिक हैं तबस्थल हैं और वास्तविक आनन्द की प्राप्ति करने वाली नहीं हैं । जीवन की वास्तविक सफ़लता है आत्मा की पवित्रता । यह पवित्रता संसार भर के आर्यों और विद्वान्ताओं को हमान रूप से मान्य है । मनुष्य का अन्तिम लक्ष्य भी आत्मा की पवित्रता ही है । सब की एक ही राह है । रास्ते में जाने ही हम अलग-अलग कर्मों में अपनी बानें प्रकट करते हैं अंग्रेजों के रूप में बर्म बट, पद और शक्तियों के रूप में जैसे ही अलग-अलग दिखाई देते हैं । किन्तु जीवन के अन्दर की राह तो एक ही है । वह है आत्मा की पवित्रता । जिसका मन्त्र, जिसका जीवन और जिसकी आत्मार्पण पवित्र नहीं है, वह सब दुनिया में चाहे जिसकी भौतिक सफ़लता प्राप्त कर के लेकिन बारम्बार में वह ऊँचा आनन्द प्राप्त नहीं कर सकता । जीवन की पवित्रता के जो साधक हैं वे अपना उत्थान करते हैं और जीवन विकास की सही दिशा में कदमों के साथ कदम बढ़ाने हैं ।

परन्तु यह है कि वह आध्यात्मिक पवित्रता कैसे हासिल हो ? जब तक हमें पवित्रता तक पहुँचने का मार्ग नहीं मिलता तब तक हम हमारे अन्दर अन्तर् में नज़रों ही रखते हैं । पवित्रता का एकमात्र रास्ता मार्ग अहिंसा है । हमें जो मनुष्य-जीवन विकास है, वह एक बीमारी

घरोहर हैं और मनुष्य-जीवन में ही हम अहिंसा की पराकाष्ठा तक पहुँच सकते हैं। मनुष्य के अलावा कोई भी प्राणी हिंसा और अहिंसा का विवेक नहीं कर सकता। यदि हम मनुष्य का जीवन पाकर भी उसका सदुपयोग नहीं करते और यह नहीं सोचते कि इस जीवन का उद्देश्य क्या है, इस जीवन का उपयोग समाज के कल्याण के लिए कैसा हो सकता है, जनता के दुख-दर्द को कम करने और समाज में सद्गुणों के निर्माण का प्रसार करने में यह जीवन कैसे सहायक हो सकता है, इत्यादि पहलुओं पर यदि हम विचार नहीं करते तो फिर मनुष्य का जीवन पाकर भी हमने उसके महत्त्व का मूल्यांकन नहीं किया, यही समझा जायेगा।

भगवान् महावीर का दृष्टिकोण इस सम्बन्ध में बहुत साफ है। वे कहते हैं कि, हमने जो जीवन पाया है, उसका उपयोग समाज की समस्याओं को सुलझाने के लिए करें। अगर ये समस्याएँ वैयक्तिक और पारिवारिक भूलों से पैदा हुई हैं, तो उन भूलों की खोज करो। यदि वे समस्याएँ समाज की भूलों से पैदा हुई हैं, तो उन्हें भी ठीक करो। इस प्रकार हमारे देश में या आस पास के सप्ताह में जो भूलें या गलतियाँ हो रही हैं और जिनके कारण मानव-जीवन में काँटे पैदा हुए हैं, उनको भी एक-एक करके दूर करो। जीवन-मार्ग को अपने लिए और दूसरों के लिए साफ, सरल और आसान बनाओ। यही मनुष्य-जीवन का वास्तविक उपयोग है।

जितने भी मनुष्य हैं, वे चाहे सप्ताह के एक छोर से दूसरे छोर तक कहीं भी क्यों न फैले हों, सब मनुष्य के रूप में एक हैं। उनकी जाति और वर्ग मूलतः अलग-अलग नहीं हैं। इसलिए समस्त मानव-जाति के साथ समानता का व्यवहार ही अहिंसा की पहली शर्त है। जो व्यक्ति मानव मात्र के साथ समानता का व्यवहार नहीं करता, गरीबी और अमीरी के आधार पर मानव का अपमान करता है या

घटा और सम्पत्ति के अधिवास में विर्वर्णों और वर्गीयों का बोधन करछा है, यह मनुष्य-जीवन के लाभ सम्पादन करछा है ।

हीन मान



कुछ लोगों में स्वाभाविक रूप से अपने आपकी हीन-हीन समझने की हीन मनोवृत्ति भी पाई जाती है । वे अपने में दुनिया भर की सब कोटियों में सुख करते हैं और अपने को बहुत निम्न कोटि का मान बैठते हैं । इन्हीं हीन मानवालों का यह दुःखद परिचाय है कि ऐसे लोग हर समय रोते और पिडपिडाते हुए बिछाई बैठे हैं । इनमें मान्य विस्वास नहीं होता और पुरुषार्थ भी नहीं होता । इनमें जो अनास्त धर्म और शक्ति हैं उसके प्रति वे स्वयं आस्थावान नहीं होते । मनुष्य के भीतर जो महत्त्व है वही स्वयं आत्मा है । महत्त्व के अतिरिक्त मानव कुछ भी नहीं है । क्योंकि महत्त्व को त्याग करने का विचार तो स्वयं आत्मा कर ही नहीं सकती । क्योंकि आत्मा मरना आत्मा का त्याग कैसे करे ? अतः महत्त्व को छोड़ना न तो संभव है और न वांछनीय है । जो महत्त्व को छोड़ देता है वह अपना स्वाधिमान भी छोड़ देता है और जिस मनुष्य के पास अपना कोई स्वाधिमान नहीं वह मनुष्य ही क्या है ? वह सभी विद्वत्तरु के अग्रज नहीं होगा चाहिए । जब महत्त्व अधिवास का रूप धारण करछा है तब वह मनुष्यों के बीच भेद और बढ़ता बढ़ा कर देता है । किन्तु जब वही महत्त्व स्वाधिमान के रूप में प्रकट होता है तब प्रत्येक मनुष्य की प्रतिष्ठा अपने पैर के ताल बजने लगती है । इसलिए अत्यन्त व्यक्ति को चाहिए कि वह अपने अन्दर सभी हीन मानना को त्याग न दे । अतः यही समझना चाहिए कि ऐसा जीवन जीने की तरह रहने के लिए या समझ जाने के लिए नहीं है । मुख्य अनास्त धर्म है, पुरुषार्थ है और धर्म-शक्ति है ।

मैं अपना और समाज का निर्माण कर सकता हूँ। उसके लिए मुझे अपने जीवन को, अपने हृदय को और अपनी आत्मा को पवित्र बनाना चाहिए। जो आत्मा है, वही परमात्मा बन सकती है। इसलिए मेरी आत्मा कमजोर या दुर्बल नहीं है।

जब मनुष्य के मन में इतना आत्म-विश्वास जागृत हो जायेगा तब वह किसी भी शोषक के चंगुल में नहीं फस सकता। जब कोई शोषक उस पर अन्याय करेगा, शोषण करेगा या उसके अधिकारों पर आक्रमण करेगा, तो वह मनुष्य उस शोषण के खिलाफ खड़ा हो जायेगा और उस अन्याय का मुकाबला करेगा। क्योंकि वह जानता है कि मैं सब कुछ कर सकता हूँ। परन्तु जो व्यक्ति हीन भावना का शिकार होगा वह घुटने टेक देगा, दब जायेगा और यह मान बैठेगा कि मैं तो कुछ भी नहीं कर सकता। मैं तो एक दुर्बल और कमजोर मनुष्य हूँ। इसलिए यह धनवान या सत्ताधिकारी जो कुछ आज्ञा देता है, उसी का मैं पालन करूँ। यही से शोषण का प्रारम्भ होता है, यही ने अन्याय का बीज अंकुरित होता है।

मानव-जीवन के भविष्य में अनीम समावृत्ति और असह्य ऊँचाइयाँ विद्यमान हैं। कोई भी वच्चा माँ के पेट में महान अथवा धनवान अथवा सत्ताधिकारी बन कर नहीं आता। कुछ आवश्यक परिस्थितियों का सहयोग भी सबको नहीं मिलता। किन्तु इतिहास साक्षी है कि अनेक ऐसे महापुरुष हुए जो वचपन में विलकुल गरीब, असहाय और सुविधाओं से वंचित थे। लेकिन उन्होंने पुरुषार्थ किया। सच्ची लगन के साथ मर्घर्ष किया और आखिर वे एक दिन समाज की प्रथम श्रेणी के लोगों में आ बैठे।

घृणा किस से ?



एक आदमी बराब पीता है । समाज की दृष्टि में वह भिर जाता है । किन्तु कब वह बराब छोड़ देता है और सम्मता के मार्ग पर आ जाता है तो वह समाज की दृष्टि में ऊँचा बढ़ जाता है । वास्तव में बराब बुरी चीज है । जब वह कभी ठीक होने वाली नहीं है । चाहे वह बाइबल के हाथ में हो बचका सूत्र के पढ़क में रखी हो या लोपड़े में । बुरी वस्तु बुरी ही होती है । किन्तु आदमी बुरा नहीं होता । वह पवित्र है और पवित्र ही रहता है । एक व्यक्ति जब बराब नहीं पी रहा होता है तो अच्छी गिनाहों से रक्षा जाता है और जब बराब पीने लगता है तो वह समाज की गिनाहों के दिर जाता है । किन्तु पवित्र बराब पीना छोड़ते ही वह पवित्र हो जाता है । ऐसा इसलिए होता है क्योंकि मानव बड़ा पवित्र ही होता है । और यदि पीने करना छोड़ देता है तो वह पवित्र बन जाता है । इसलिए नृणा पार से भी बारी चाहिए, पानी के नहीं । वे बुराईयाँ भी एक तरह से रोप हैं । जैसे कुच्छ के रोमी से भी हम नृणा नहीं करते बल्कि ठेका-मुचुवा करके उसे लम्बुरस्त बना देते हैं । कभी तरह नमुच्य में जो बुराईयाँ बीया ही जाती हैं उन्हें भी दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए । नमुच्य से कभी भी बचरस नहीं करनी चाहिए । सीपना चाहिए कि एक बड़ा बड़ा आदमी बाहर बराब क्यों पीने लगा ? पीने क्यों करने लगा ? व्यवहार क्यों करने लगा ? उसके पीछे कतथा कीमता मनीषिज्ञान काम कर रहा है ? इन बुराईयों के उत्पन्न होने के लिए कीमती परिस्थिति भूटी और बिना बातावरण की अनुकूलता प्राप्त हुई ? इन सब बातों पर समीक्षा के विचार करके फिर उस परिस्थिति को मिटाने के लिए एक व्यवस्थित योजना बनानी चाहिए । उस योजना के अनुसार कार्य करना चाहिए । फिर उस पानी नमुच्य के साथ

कोमल व्यवहार करते हुए धीरे-धीरे इस तरह से पेश आना चाहिए कि जिससे वह स्वयं अपने पाप से नफरत करने लगे और अच्छाई की तरफ उन्मुख हो जाय । इस तरह की मानसिक चिकित्सा से ही ये मानसिक रोग दूर हो सकते हैं ।

आज जिवर भी दृष्टि दौड़ाते हैं, उधर ही घृणा और द्वेष के अशुभ चिह्न दिखाई देते हैं । घृणा और द्वेष का मूल कारण मन की सकीर्ण भावनाएँ हैं । यह सकीर्णता ही हिंसा है । इस सकीर्णता को जब हम मिटा देंगे और अपने हृदय को बहुत उदार तथा विशाल बना लेंगे, उसी दिन अहिंसा प्रगट हो जायेगी ।

पवित्रता



पवित्रता का सन्देश न केवल जैन विचारको ने बल्कि ससार भर के विचारको ने एक स्वर से दिया है, किन्तु इतना अवश्य मान लेना चाहिए कि यह पवित्रता जाति, वंश अथवा वर्ग से सम्बन्धित नहीं है । पवित्रता को प्राप्त करने के लिए साधना और तपस्या की आवश्यकता है । वाल्मीकि अपने प्राथमिक जीवन में अत्यन्त क्रूर डाकू था और समाज में चारों ओर अव्यवस्था उत्पन्न करने वाला एक लुटेरा था । उसके हाथ खून से भरे रहते थे । किन्तु जब जीवन की पवित्र राह मिली और उनके हृदय में करुणा का स्रोत फूटा तब वे महाकवि बन गये, महर्षि बन गये । इसी तरह अर्जुनमाली की कहानी जैन ग्रंथों में इसी दृष्टिकोण को प्रतिपादित करने वाली है । नरहत्या जैसा जघन्य कर्म करने वाला और हिंसक वृत्ति में आकण्ठ डूबा रहने वाला अर्जुनमाली एक दिन इन समस्त घृणास्पद वृत्तियों को त्याग कर ऋषि बन जाता है और स्वयं भगवान् महावीर उसे अपना वरदहस्त प्रदान करते हैं । बौद्ध-साहित्य में अगुलीमाल की जो प्रेरणाप्रद कथा मिलती है,

यह भी इसी बात का प्रमाण है कि माधन-माध है गुना करने वाला एक व्यक्ति कैसे बिना बचकर पवित्रता की अधिक प्राप्ति कर लेता है।

इन तीनों बराबरियों से यह स्पष्ट है कि निम्न सेबी में निम्न कोटि का काम करने वाला आदमी भी जब जीवन की वास्तविकता को परख लेता है तब पवित्र बन सकता है। किन्तु अगर हम अपने हृदय की प्रवृत्तियों को काबू में न रखें अपने विचारों को नियंत्रित न करें अपनी इच्छाओं की संयमित न रखें तब क्या पवित्रता वैसी जीवन कैसे उपलब्ध हो सकती है ?

यह खरीद



एक आत्म-आत्मक व्यक्ति निरन्तर यह सोचता रहता है कि मैं इस खरीद से निम्न हूँ। यह खरीद अपवित्र है अपुत्र है। मेरी आत्मा पवित्र है और बुरा है। इसलिए इस खरीद का मुझे मोह नहीं करना चाहिए और कभी भी इन बाह्यक वाक्यांशों में आश्रय नहीं होना चाहिए। परन्तु यदि कोई व्यक्ति इस खरीद की अपवित्रता का विचार करते समय अपनी आत्मा को भी अपवित्र समझ ले और फिर पवित्रता की खोज ही न करे तब तो आत्मतत्त्व और मुवाचिक परिस्थिति उपलब्ध हो सकेगी।

हां तो खरीद की अपवित्रता और आत्मा की पवित्रता इन दोनों बातों को अच्छी तरह से समझ लेना आवश्यक है। यह खरीद एक भौतिक उपकरण है। अतः इस खरीद की अपवित्रता भी मुख्यतः भौतिक ही है। हमें चारों ओर भी भी लुक लपटनी दिखाई देती है, यह भी इन खरीद के कारण ही है। यह इच्छाओं का हाथ और मांस का जीवन जगति से दूर हुआ है। इस खरीद में अत्यन्त आदि उपार्ण करे हुए हैं। यह खरीद किसी भी वस्तु की अपने अन्दर रहने

करते ही उसे अपवित्र बना देता है। चाहे भोजन कितना ही पवित्र और स्वच्छ क्यों न हो, जैसे ही वह शरीर के सम्पर्क में आता है, दूषित बन जाता है और सड़ जाता है। मनुष्य जिस मकान में रहता है, वहा भी शरीर के द्वारा ही गन्दगी उत्पन्न होती है। शहर की गली-कूचों की गन्दगी का कारण भी यह शरीर ही है। मनुष्य के शरीर के सम्पर्क से हवा, पानी, मकान आदि सभी चीजें मलिन हो जाती हैं। किन्तु आत्मा पूर्णतः पवित्र है। उसमें कहीं भी मलिनता नहीं है। आत्मा एक अनुपम कल्पनातीत वस्तु है, जो चैतन्यमय है, प्रकाशमय है और स्फूर्तिमय है। व्यक्ति-व्यक्ति की आत्मा अलग-अलग होते हुए भी उन सब आत्माओं में कोई भेद नहीं है। वेदान्त-दर्शन तो सम्पूर्ण जगत् में एक ही ब्रह्म को स्वीकार करता है। अद्वैत-वादी यह मानते हैं कि इस ससार में ब्रह्म एक है और वही सत्य है। वेदान्त के आचार्यों ने इतनी बड़ी बात कह दी है, फिर भी पुरानी वृत्तियाँ अभी तक मर नहीं सकी हैं। अभी भी अद्वैत और वेदान्त को मानने वाले व्यावहारिक जीवन में इस एकता को उतार नहीं सकते। यदि यह व्यापक एकता व्यावहारिक जीवन में उतर जाय, तो फिर कोई भी व्यक्ति किसी की भी हिंसा के लिए उत्तारू नहीं होगा। जब वह सोचेगा कि मैं जिस पर हावी हो रहा हूँ, जिस पर अन्याय कर रहा हूँ या जिसकी हिंसा कर रहा हूँ, वह स्वयं मैं ही हूँ, जब इतना अपनत्व, इतनी एकता और इतना स्नेह जागृत हो जायेगा, तब हिंसा के लिए गुजाइश रह ही नहीं सकती। यह बड़ी मनोरम कल्पना आचार्यों ने की है। क्योंकि वे सारे ससार को भावनात्मक एकता के सूत्र में पिरोना चाहते थे। ससार की समस्त शक्तियों को किसी एक ही पुज में निबद्ध करके उन्होंने समस्त भेदभावों को मूल से विनष्ट कर देने की योजना बनाई थी। किन्तु दुर्भाग्य से वह कल्पना केवल शास्त्रों और ग्रन्थों की धरोहर बनकर रह गई अथवा विवाद का विषय बनकर रह गयी। यही कारण है कि आज समस्त सृष्टि में एक

ही राष्ट्र के होने का दर्शन बचाने-बाँके जी सोपन अन्धधुंध और कलहा के संकुल में खड़े हुए बीच पड़ते हैं। पुराने आचार्यों ने भी मन की समीक्षा का निरसन करने के लिए मार्ग निकाला था वह मार्ग अब करीब-करीब अन्धधुंध-सा बन गया और आज एक जीवन में कहीं भी उस ऊँचे मार्ग का दर्शन नहीं होता। समुद्र बाढ़ि आब अनेक दुकनों में बट गयी है और अत्यंत दुकना दुकने के प्रति इस तरह वृथा का नाव प्रवर्धित करवा है नावों वह दुकना दुकना सर्वथा अपरिचित हो या भुवन हो। आज समुद्र के आचार-निचार का कोई मूल्य नहीं रह गया है और एकता के बारे में किसी व्यक्ति से बोली जाय में कभी केवल जगह-जगह से काट डाले हैं। इसी कारण के बावजूद ही सांस्कृतिक और मानवतात्मक एकता नेतेनादुर हो गयी है।

आज हमारे देश में जाति के नाम पर, धर्म के नाम पर, पंच के नाम पर, भाषा के नाम पर, जाति के नाम पर रोक लगाई जाती है, रोक बोकिया बकली है, रोक रने होती है तथा रोक संघर्ष के समाचार सुनने को मिलते हैं। बंदाजी-बिहारी का प्रसन्न बराली बुधराजी का प्रसन्न बराली-कल्लर का प्रसन्न हिन्दी-बंदाजी का प्रसन्न आने किन्ने प्रसन्न आज देश को अन्धधुंध बना रहे हैं और भारतीय समुद्र की समीक्षा के जीवन में बाँध रहे हैं। वे बारे में मान ली है और वह एकता ही मानवता का बराली है। क्योंकि बहिष्कार का मूल लक्ष्य मानव जाति की एकता में निराला करवा है। अतुल्य बहिष्कार मानवमात्र तक ही सीमित नहीं रहती बल्कि वह माजीमान तक पहुँचती है।

हम देखते हैं कि अनेक बराली और निचारक माजीमान से प्यार करते हैं। केवल समुद्र के ही नहीं बल्कि बराली के पदों से

बिल्लियो से, पेड़-पौधों से यानी सम्पूर्ण प्रकृति से प्यार करते हैं। उनके हृदय में स्नेह की ऐसी गगरी भरी होती है, जिसे वे अहिंसा के साधक प्रकृति की हर वस्तु पर उडेलना चाहते हैं। कितना आनन्द-मय और कितना स्नेहमय उनका हृदय होता है ! और इस कोमलता के कारण उनके जीवन को कितना सुख प्राप्त होता है । /



शोषण भी हिंसा है



मनुष्य के सामने एक सबसे बड़ा प्रश्न यह है कि उसके जीवन का सही ढंग क्या है, वह किस मार्ग-प्रणाली से चलता है, उस समाज के अन्य मनुष्यों के साथ उसके सम्बन्ध कैसे हैं ? जबतक यह स्पष्ट रूप से यह निर्णय नहीं कर पाता है कि मानव समाज के सभी मनुष्यों के साथ उसके सम्बन्ध स्नेहक और सहयोगात्मक बाँधे हैं या नहीं, तब तक वह दुर्भिक्ष, मानवता के मार्ग पर जाये नहीं वह सक्षम ।

मनुष्य एक समान है ; पुरुष और रंक सानी कमीर और परीस के बेटे दुनिया हैं । इसलिए किसी भी मनुष्य की यह अधिकार नहीं है कि वह दूसरों के सुखों को जीने का कोई भी प्रयत्न करे या दूसरे के जीवन की दुनिया में अपने सुख का बहुत बड़ा करे । जाति-पाति के आधार पर या किसी भी अन्य भौतिकता के स्वरूप आधार पर कल्पित हुए वर्गबाध से हम एक प्रकार की ऐसी शोषणमय नृत्ति पाते हैं जिसके अनुसार एक वर्ग दूसरे वर्ग पर हावी होना चाहता है । कमीरों का वर्ग परीसों के वर्ग पर ही बड़ा है । यद्यपि वे इस कमीरों की निन्दा करते हैं, वे परीसों की तारीफ नहीं करते । वे दोनों ही समाज के लिए परदाय नहीं हैं । समाज के लिए तो सम्मेलन का महान सुख ही परदाय है । कमीरों और परीसों तो समाज में एक दोसरे के रूप में ही प्रकट होती हैं । यद्युक्त एक ऐसा समकाल भी अपने पास के मन की समझ की सम्पत्ति मानता है और समाज के साथ के लिए उसे बुरा भिन्न रखता है तथा समाज के साथ के लिए ही मन का व्यवस्था करता

है, वह धनवान अवश्य ही प्रसासा का पात्र है। किन्तु अगर कोई धनवान अपने धन को वैयक्तिक सम्पत्ति मानकर अनैतिक मार्गों से धन का उपार्जन करता है, उस धन की गुरक्षा करता है और फिर अपने भोग-विलास के लिए अथवा अपनी वासनाओं की पूर्ति के लिए उस धन का व्यय करता है, तो वह धनवान, समाज की सम्पत्ति के साथ खिल्वाड करता है। इसी तरह एक गरीब है और उसके पास पैसा नहीं है, किन्तु उसका जीवन, उसका आचार, उसके विचार, उसका रहन सहन, नैतिक है, उन्नत है, न्याय प्रधान है, तो निश्चय ही वह गरीब भी एक आदर्श मानव है। किन्तु अगर कोई गरीब अपनी गरीबी के लिए रोता रहे, उसके लिए अपने भाग्य का कोसता रहे, कोई पुनर्पार्थ न करे, तो वह गरीब भी समाज के लिए भारस्वम्प बन जाता है। लेकिन मुख्य बात तो यह है कि गरीबी और अमीरी के भेद को जड़ मूल में मिटाकर मानव मात्र की समानता, मानव मात्र की एवता और मानव मात्र की बन्धुता के सिद्धांत को संपूर्ण समाज में कायम करना चाहिए। जहां समानता, एकता और बन्धुता जैसे महान सद्गुण हैं, वहां किसी तरह की कोई हिंसा समाज में नहीं हो सकती। जहां ऐसे सद्गुण विकसित और पल्लवित हो रहे हैं, वहीं प्रसासा के उद्गार प्रकट हो सकते हैं।

कर्तव्य



एक राजा यदि ऐसा समझता है कि वह जनता की सेवा के लिए राज्य की व्यवस्था को सभाल रहा है, उसे राज्य के मोह में नहीं पड़ना चाहिए, न राज्य का अहंकार करना चाहिए, बल्कि राज्य के समस्त साधन जनता के लाभ के लिए, जनता की सेवा के लिए जुटा देने चाहियें तो वह राजा और वह शासक सच्चा देश भक्त और

अन्धा रात्रुवासी कहलायेगा। उसकी हथ कभी भी मित्रा नहीं कर सकते। वहीं उसकी अंधता होगी। किन्तु यदि नहीं राजा राज्य का सुव्यवस्थापन करे राज्य की अपने व्यक्तिगत लाभ के लिए अपने पीछे भोज के और मनता की सेवा करने के स्वाभाव पर अपने स्व की अपनी जाति की अपने घर की सम्पत्ति में ही रुका रहे, तो वह राजा और वह शासक वहीं मित्रा का शत्रु बनता है। वहीं राज्य यदि बलीय नभसुर मेहनत और सुव्यवस्था के बराबर छोटी करता है, छोटा पीठा है, निरन्तर कुर्तपति में रुका रहता है तो वह समाज के लिए निरर्थक ही एक गृह का काम करता है और "चूके से बरेका वह भी बीम बढ़ा" वाली कहावत के अनुसार एक तो बलीय और दूसरे वह पीठा, मूला शिक्षक बंसी और व्यक्तिचारी। जब ये दो-दो बालक रोव एक साथ मिल जाते हैं उस समाज के लिए निरर्थक व्यक्तिगत बनकर वह बलीय नभसुर अपने राज्य की बर्त में के जाता है, इसकी लक्ष्य सम्पत्ति की का समझी है।]

सुख अन्ध अंधीपी और बलीय का नहीं है। अन्ध तो वह है कि तुमने सत्कार की क्या किया? क्या तुमने अनुग्रह के साथ समुन्मोहित व्यवहार किया है? तुम देखता नहीं जब तक तो कोई सम्पत्ति नहीं है, लेकिन तुमने इन्सान का ता बटना देना, पीटना-बचाना सीखा है या नहीं? अगर तुम नहीं जानें व इन्सान हो तो फिर बलीय और निर्धनता कोई अर्थ नहीं रखती। वह नराम्य है और इनारे विवाह के मार्ग की रोकने में अक्षम है। किन्तु यदि बलीय होते हुए भी तुमने इन्सानियत नहीं है, मानवता का व्यवहार नहीं है धारण के साथ धार करने की उत्कण्ठा नहीं है तो तुम्हारी अंधीपी भी तुम्हारे विवाह के मार्ग में रोकता बन जानेगी और तुम्हें पथ के बर्त में डकेल देगी।

छोटा कद



भारतीय विचारको ने अद्वैत के रूप में या मानव-मात्र की समानता के सिद्धान्त के रूप में बहुत ही ऊँचा आदर्श हमारे सामने रखा। किन्तु उसकी तुलना में आज हम घुटने नीचे आ गये हैं कि उसको अच्छी तरह छू भी नहीं सकते हैं। जाचरण-हीनता के कारण हमारा कद छोटा हो गया जबकि सिद्धान्तों का कद बहुत ऊँचा है। जैसे वीना आदमी किनी लम्बे कद वाले के पान खा हो और वह उसके कंधों को नहीं छू पाता है, उसी तरह आज हम अहिंसा और सत्य के ऊँचे आदर्शों को छू नहीं पा रहे हैं। इसलिए आवश्यकता है ऐसे अभ्यास और प्रयत्न की जिसके कारण हमारा कद ऊँचा हो सके और हम अपने समानता के ऊँचे आदर्श को अपने जीवन में उतार सकें।

राम द्वारा शोषण



शोषण का सिद्धान्त आज नया नहीं निकला है। हम ऐसा मानते हैं कि हमारे इतिहास में अनेक महापुरुषों ने भी शोषण का रास्ता सर्वथा वन्द कर दिया हो, ऐसी बात नहीं है। वे परिस्थितियों के सामने मजबूर होकर स्वयं भी शोषण के रास्ते से चल पड़े। इसका एक उदाहरण राम द्वारा सीता को वन में भेज देना है। मैं इस सम्बन्ध में जितना भी तर्क और बुद्धि की कमीटी पर विश्लेषण करता हूँ, उतना ही मेरे मस्तिष्क में यह स्पष्ट होता जाता है कि राम ने सीता का त्याग कर के न्याय नहीं किया, बल्कि सीता के मानस का शोषण किया। यदि राम स्वयं सचमुच सीता को पतित समझने होने तो उनका कार्य उचित समझा जाता। किन्तु उन्हें तो सीता के सतीत्व और पवित्रता का पूरा भरोसा था, फिर भी उन्होंने गर्भवती सीता को जंगल में छोड़ दिया। जो राम प्रभावशाली रावण के सामने

अवस्था में रहता है, तब वह व्यक्ति, समाज एवं राष्ट्र के लिए खाना लाकर देता है। किन्तु मुर्दा रुपया चारों ओर की हलचल से हटकर जमीन में या तिजोरी में बन्द हो जाता है। परन्तु रुपये को क्रियाशील बनाते समय भी यह ध्यान अवश्य रखना पड़ेगा कि वह रुपया किसी अनीति और अन्याय के मार्ग पर न चला जाय। व्याज लेकर रुपया देने की बात भी इसी तरह से अनीति और अन्याय के मार्ग की बात है।

व्याज के बारे में भी अनेकों प्रकार के रिवाज चालू हैं। जब एक रुपया लेने आता है तो व्याज के दर कम हो जाते हैं। किन्तु जब एक साधारण आदमी वह रुपया लेने आता है तो उसी रुपये के दर दुगुने, तिगुने तक चढ़ जाते हैं—हालांकि उस साधारण आदमी को रुपये की अनिवार्य आवश्यकता होती है। यहां तक कि उसका परिवार भूखों मर रहा होता है। व्यापार में वह चोट खा चुका है। ऐसी परिस्थिति में उसे रुपया न मिलने पर उसका परिवार नष्ट-भ्रष्ट हो सकता है। उसकी इज्जत पर आच आ सकती है। किन्तु उसकी आवश्यकता को अनुभव करके, व्याज की दरें और ज्यादा बढ़ जाती हैं। इसका स्पष्ट अभिप्राय यही है कि शक्तिशाली हाथों पर तो भार कम लादा जाता है और अशक्त खरगोश पर ज्यादा-से-ज्यादा भार लाद दिया जाता है। समाज की कुरीतियों के कारण भी अनेक चीजें बुराई बन जाती हैं। श्रीमत् की अपेक्षा गरीब से दुगुना और तिगुना व्याज लेना, एक बार रुपया देकर फिर शोषण के रूप में व्याज चालू रखना, इसी तरह की एक सामाजिक बुराई है। पूँजीवादी वर्ग की अर्थ-लिप्सा ने ही इस व्याज के रोग को प्रेरित किया। साहूकार एक बार रुपया दे-देता है और फिर इतना शोषण करता है कि मूल रकम तो सदैव बनी रहती है और कर्जदार वर्षों तक व्याज में फसा रहता है। व्याज के रूप में किसी गरीब कर्जदार के रक्त को चूसना कितनी बड़ी हिंसा है, इसकी सहज कल्पना की जा सकती है।

बाप को पावन माना है वह बाप के मोहर से लंघित नहीं कर सकता। इसे बाप का दूध प्राप्त करने का अधिकार है। परन्तु बाप को दुहते-दुहते जब दूध ब नही तो उनका रक्त दुहना तो अनिवार्य ही है। यह तो इन्सानियत से नीचे की बात है। इसके अन्वयार्थ नाम के दूध पर केवल प्रभुत्व का ही तो अधिकार नहीं। उस बेचारे बच्चे का भी तो कुछ हक है। हालांकि प्रायः मान्य व्यवसाय करनेवाले समझते हैं कि बाप दुहते समय पीछे बच्चे को पीने के लिए दूध छोड़ दे। यही प्रकार कृति स्वाम के सम्बन्ध में भी होनी चाहिए। जब जन्म किसी की रचना है तो स्वायत्त-प्राप्त कुछ-कुछ चाहिए के बच्चे हैं। परन्तु उस घर अकर्तव्य स्वाम वाले रहना और बचकर स्वाम का ही चन्दा करना तो सर्वथा अनुपायहीनता और अनिवार्यता ही है। यह निश्चित बात है कि स्वाम की दूर बाई मित्रगी ऊँची हो बकरतबब बादपी रचना देने को तैयार हो ही जानेवाला क्योंकि वह अन्तर्द्वेष होता है। बापों और की विषम परिस्थिति बने चले चली है। घर जब वह रचना बन्द नहीं कर पाता तब दूरकोर बाहुबल बचवा घर बहकी बनील और उड़का सामान तक लीजान कष्ट पैदा है। इस तरह स्वाम के कारण बाँध-ने-आव बचाने होती देखे बने हैं।

जबकि हिंदू के साथ जातीय बराबरी तथा श्रेष्ठ की विद्या माना चाहिए। जिसे माप करने के रहे हैं, वह मापके ही इस विद्यात्मक परिवार का रहस्य है। इन मापे वह मापका अभिन्न अंग है। जैसे मापकी अपने परिवार की विद्या चली है। जैसे ही उनकी भी मापकी विद्या चली चाहिए और वह व्यक्ति विन परिस्थितियों में और विन कसबाओं में मात्र पष्ट उठा रहा है, वह परिस्थितिवा बने दूर ही और वे कसबमें बने मुकते। इस सम्बन्ध के बावकी बचाने ध्यान देना चाहिए। सम्बन्ध आई एक बड़े बार्थमिक और बोधी पुनर्ब हो बने हैं। बाँकी भी ने की सम्बन्ध आई के औरना प्राप्त की

पी। रायचन्द भाई पहले बम्बई में जवाहरात का व्यापार करते थे। उन्होंने एक व्यापारी से सौदा किया कि इतना जवाहरात अमुक भाव में अमुक तिथि पर देना। उनके लिए जो पेशगी रकम देनी पड़ती है, वह भी दे दी गयी। परन्तु किमी कारणवश जवाहरात का भाव बढ़ने लगा और इतना घट गया कि बाजार में कुछल पुयष्ट मच गयी। नियत तिथि पर व्यापारी ने अगर नियत जवाहरात ले लिया जाता तो उसका घर तक नोशाम हो जाना। पर रायचन्द भाई उस व्यापारी के यहा पहुँचे और कहा कि आप किनी भी तरह परेशान न हो। आप इस लिखा-पट्टी के कारण परेशान हो रहे होंगे। मैं नहीं चाहता कि इस कागज के पुत्र के कारण आपने और मेरे बीच जो सम्बन्ध है, वह टूटे। ऐसा कहते-बहते ही रायचन्द भाई ने उस इकरारनामे के टुकड़े-टुकड़े कर दिये और बोले, रायचन्द दूध पी सकता है, खून नहीं। हमारा वायदा जब हुआ था तब से अब परिस्थिति बदल गयी है और मेरा तुम पर चालीस-पचास हजार रुपया लेना हो गया है। मैं तुम्हारी परिस्थितियों से अनभिज्ञ नहीं हूँ। यदि यह रुपया मैं लूँगा, तो तुम्हारी क्या स्थिति होगी यह मैं जानता हूँ। इतना सुनते ही वह व्यापारी गदगद हो गया और उनके चरणों में गिर पड़ा। उसने कहा, आप मानव नहीं, देवता हैं।

खिलवाड़



इसके अलावा और भी शोषण के कई प्रकार हैं। खेत पर जमीन का मालिक जमींदार अपने मजदूरों से कड़ी धूप में कसकर काम लेता है। परन्तु जब मजदूरों को देने का समय आता है, तब उसके हाथ ढीले पड़ जाते हैं और वह घुड़किया दिखाने लगता है। इसी तरह मिल के मजदूरों की भी दयनीय हालत होती है। जब कि मजदूर अपनी

मेहनत से मिल की खड़ी करते हैं और मात्र मात्र पैसा बरफे करने
 मानिक की मित्रोरी को करते हैं। विष्णु इन मजदूरों की हीन हालत
 पर मिल के मानिक सभी को चीर करी करते हैं। एक लाख मिल की
 ऊंची बिजनेसों से बूझा उठता रहता है और दूसरी लाख मजदूरों के
 घर से बूझा उठ नहीं सकता। एक लाख मानिक ऊंची मालिकानों
 में आनन्द-विद्यान कर रहा होता है और दूसरी लाख उनकी के मजदूर
 बड़े बिजनेसों के चीर करी बस्तिनों में अपनी कुलीबस्त की जिंदगी बगल
 करते हैं। यह परिस्थिति एक का हो उभर नहीं है, बल्कि सर्वत्र दिखाई
 पड़ती है। अहिंसा-अहिंसा की बात करने वाले और अहिंसा अहिंसा
 का नाम लगाने वाले भी इस मूल्य हिंसा के मूल्य को बिनाश नहीं
 बखल पाने और मानवता के साथ नया व्यवहार करते रहने हैं। यह
 एक समाज में छोटी और बड़ी के बीच मानिकों और मजदूरों के बीच
 बगलों और मजदूरों के बीच बाइ के से सम्बन्ध रहने यह एक एक
 समाज में ही सुनी हो उठता है और न समझ हो पड़ता है। यह सब
 नहीं कि एक मिल से मजदूर अपने अभाव से असमर्थ होकर बर्बाद
 कर बैठें और समाज में पाटी और मित्रोरी करी पाठि की मान नवा
 दें। यदि ऐसी एक जगह का अवसर आता ही हो तो वह तो कुछ रहने
 की दृष्टि है ही नहीं। विष्णु यदि इन एक पाठि के वाले मानिकों को
 हटा देता है, तो बाइके मानिकों कीबीरों और ऊंचे बड़े बाने पाठि
 लोगों का कर्तव्य है कि वे इस शोषण के तरीकों को छोड़कर, व्यक्तिगत
 स्वाभिव्यक्ति के स्वागत पर सामाजिकता को प्रथम दें और मजदूरों तथा
 सर्वदाय बन के मेहनतकश लोगों को भी बीने का रहने का खाने का
 और रहने का सुविधापूर्ण अवसर दें।

रोटी का सवाल



धर्म का उपदेश बहुत प्राचीन काल से दिया जाता रहा है। फिर भी आज तक उसका पूणतः अमल नहीं हो सका। आखिर इसका कारण क्या है ? हमें यह सोचना होगा कि वह धर्म केवल आदर्शवादी भी है या यथार्थवादी भी है ? वह आदर्शों के सुनील आकाश में ही उड़ता है, या जीवन-व्यवहार की सत्य भूमि पर भी कभी उतरता है ?

अनेक बार हम देखते हैं कि आदर्श, आदर्श ही बनकर रह जाते हैं ऊँचाइयाँ, ऊँचाइयाँ ही बनी रहती हैं। वे जीवन की गहराइयों के और उसकी समस्याओं को हल करने वाली वास्तविक भूमिका पर नहीं उतरती। कुछ सिद्धान्त ऐसे होते हैं, जो प्रारम्भ में तो बहुत ऊँची उड़ान भरते हैं और आकाश में उड़ते दिखलाई देते हैं, किन्तु अन्ततः व्यावहारिक जीवन के घरातल पर नहीं उतरते, क्योंकि उनमें जनता की समस्याओं का उचित समाधान करने की क्षमता नहीं होती।

कुछ सिद्धान्त यथार्थवादी होते हैं। वे जनता की आवश्यकताओं का, समस्याओं का सीधे ढंग से समाधान करते हैं। बच्चों, बूढ़ों, युवकों और महिलाओं की क्या समस्याएँ हैं ? भूखी-नगी जनता की क्या समस्याएँ हैं ? इन सब पर गहराई में उतर कर विचार करना ही उनकी सैद्धान्तिक यथार्थता का सर्वोत्कृष्ट लक्ष्य है।

हा, तो समाज फिर किस पृष्ठ-भूमि पर टिकेगा ? वह कोरे कथोपकथन और कागजी आदर्शवाद पर जीवित नहीं रह सकता।

जब इसे व्यावहारिक व्यवहारिक मिलेगा तभी चिन्ता रहेगा । इस सम्बन्ध में एक आचार्य ने कहा भी है :

“बुद्धिर्निर्व्याकरणं न बुध्यते
विपाश्चितः वाच्यरतो न वीक्षते ।

जबान् एक आदमी बुद्धा है । ऐसी स्थिति में व्याकरण के बहुत-से पूर्व सिद्धान्तों से जल्दा कट नहीं करेगा । वाच्य वा रत कहा भी है । जब कविता पाठ होता है तो जोश बच-पुनः होकर जब आते हैं और बंदों तक चले रहते हैं । अमृत-नाम जैसा आलेख भी अनुभव करते हैं । किन्तु व्यास के व्याख्यान यदि कोई व्यास नहीं माने और पानी पानी किन्तु हमसे यह कहा जाय कि—“पाई नहीं पानी नहीं है । नहीं वाच्य है जो कि बहुत ही मधुर है उससे अमृत जैसा मधुर एक है । इसी को पीकर अपनी व्यास बुद्धा भी । तो क्या पानी के प्यासे को व्यास वाच्य-रत से कुछ धकेली ? क्या यह वाच्य वा रत भी ही है ?

इसलिए व्यावहारिक जीवन के सम्बन्ध में व्यवहारिकी आचार्य कहते हैं कि जीवन-व्यापार को व्यवस्थापन तो जल्दबाजी के मुख्य कहती हैं न वाहिनी से और न दक्षिणी से ही । उन्हें अनुमाने के लिए तो कोई दृष्टि ही सही दृष्टि जोयना पड़ेगा ।

रो-आर दिन का बुद्धा एक आदमी आपके सामने आता है । वह आपसे बार-बार जोयन करने की इच्छा रखता है । पर बार-बार कहने हैं—“आई, इस समय बर्ष का जीवन तो तैयार है । रो-दिन ही बने हैं तो रो-दिन का जल्दबाजी और कर को । बरे, रो-दिनों में क्या रहा है ? मनी फिर कुछ कम बामेपी । जल्दबाजी के आगे आ रहे हो और जल्द बुद्धि बर्षों के जल्दबाजी रो-दिनों के देर का बुद्धि हो ।

फिर भी तुम्हारी भूख नहीं मिटी तो अब चार कौर से क्या मिटने वाली है ? छोड़ो, इस रोटी को । अब धर्म की रोटी ले लो, जिससे इस लोक की भी भूख बुझेगी और परलोक की भी भूख बुझ जायेगी ।”

धर्म का मजाक



आप ही कहिए, क्या सच्चे धर्म की यही व्याख्या है ? यह धर्म का उपदेश है या उसका मजाक ? यह एक ऐसा विचार है, जिससे जनता के मन को साधा नहीं जा सकता, बल्कि उसके हृदय में काटा चुभाया जाता है । क्या मानव-जीवन इस तरह चल सकेगा ?

इस प्रकार का कोरा आदर्शवादी दृष्टिकोण वास्तविक नहीं है । वह जीवन की मूलभूत और ठोस समस्याओं के साथ निष्ठुर उपहास करता है, वह, मर जाने के बाद तो स्वर्ग की बात कहता है, किन्तु जीवित रहकर इस ससार को स्वर्ग बनाने की बात कभी नहीं कहता । मरने के पश्चात् स्वर्ग में पहुँचने पर ६४ मन का मोती मिलने की बात तो कहता है, परन्तु जिन्दा रहने के लिए अन्न के दो दाने पाने की राह नहीं दिखलाता । वह स्वर्ग का ढिंढोरा तो पीट सकता है, किन्तु जिस मृत प्राय प्राणी के सामने ढिंढोरा पीटा जा रहा है, उसे जीवित रहने के लिए जीवन की कला नहीं सिखलाता । इस प्रकार का हवाई दृष्टिकोण अपनाने वाला धर्म, चाहे, वह कोई भी हो, जनता के काम का नहीं है । आज की दुनिया को ऐसे निस्सार धर्म की आवश्यकता भी नहीं है ।

जिस दुकान में उधार बिक्री का ही व्यापार चलता हो और नकद बिक्री की बात ही न हो, क्या वह दुकान अपने को स्थिर रख सकेगी ? इसी तरह जो धर्म, परलोक के रूप में केवल उधार की ही बात करता

हैं और कहता है कि उपवास करने से तो स्वर्ग मिल जायेगा। चर्च वहीं का सम्बन्ध और उपवास कठोर विज्ञापन करोगे तो स्वर्ग मिल जायेगा। तीर्थस्नानों का पर्यटन करोगे तो स्वर्ग मिल जायेगा। किसी के कहने-सुनने काटि नहीं करोगे तो स्वर्ग मिल जायेगा। परन्तु जो चर्च यह नहीं करता है कि आज का दिन जो नाम कर रहे हैं, कन्या नहीं क्या कम विधेया? जो चर्च यह नहीं बना करता कि सर्वमान्य कर्तव्य का पालन करोगे तो स्वर्ग नहीं पर और एक पौषण के ही उपर माया विद्वाने मुन्हाए समाज परिवार और राज्य स्वर्ग ही स्वर्ग बन जायेगा। फिर उस नास्तिक चर्च का नाकारण बनता क्या उपयोग करे?

क्याही ही यह है कि स्वर्ग में के प्राप्ति ही चाहेंगे विद्वाने अपने उत्तम और सद्यचार के द्वारा नहीं पर स्वर्ग बना लिया है। जो नहीं पर स्वर्ग नहीं बना पाये हैं, और जो यहां पर कृपा भुक्तमपी और शाहादत का कारणीय जीवन व्यतीत कर रहे हैं, उन्हें किसी चर्च के द्वारा यदि सभी स्वर्ग विद्वाने ही तो यह सोचेंगे ही विधेया। इनसे-इससे कभी नहीं मिलने का।

आज से नहीं, किराज के चर्च की समीचीनी व्याख्या सुनी जा रही है परन्तु के केवल सुनने के लिए सुनी जा रही है, इन पर संजीवना-सुखक विद्वाने मनन नहीं किया गया है। इनलिए चर्च को सम्बन्ध होना पड़ा है और अपने को वासिक रहने और उपस्थित बाके आज के वासिकों की वाचार-विहीनता तथा विवेक-सूत्रता के मुक्ति वास्तविक चर्च के उदात्त ब्रह्म पर वासिक लग गई है।

यदि आज आज की यही सोचते हैं कभी क्या है संसार तो जो ही बनता रहेगा। कौन कभी मरे तो क्या? जाने को निके तो जाये,

और यदि नहीं मिले तो भूखे पड़े रहो परन्तु ज्यों ही खाने के लिए काम किया या अन्न पैदा किया तो कर्मों का वध हो जायेगा। इस प्रकार खाने-पीने की बातों में आत्मा का कल्याण नहीं होता है। ये सब ससार की कपोल-कल्पित बातें हैं और ससार की बातों से हमारा सबध ही क्या है ? जो ससार का मार्ग है, वह वधन का ही मार्ग है, एक प्रकार से नरक का ही रास्ता है, तो यह सोचना गलत है।

आपको यह भी जानना चाहिए कि जीवन में पेट की समस्या ही बड़ी समस्या है। जब कभी आपको भूख लगे और भोजन के लिए अन्न का एक कण भी न मिले, तब चिन्तन की गहराई में जाइये। उस समय पता लगेगा कि भूखों की शोचनीय अवस्था होती है ? उस समय धर्म कर्म की मरहम पट्टी काम देती है या नहीं ? जब मनुष्य भूख की पीडा से व्याकुल होता है, आँखों के आगे अघेरा छा जाता है और मृत्यु का नगा नाच होने लगता है, उस हालत में समता या दृढता का मरहम लगाने वाला मी में से एक भी शायद ही निकले, अन्यथा सभी घायल होकर सहज में अकाल मृत्यु की भेंट चढ़ जाते हैं।

जैन-शास्त्रों में जो बाईस परीपह आये हैं, उनमें पहला परीपह क्षुधा का है। शेष ताड़न या वध आदि क्रूर परीपहों का नम्बर बहुत दूर आता है। स्थूल हिंसा के रूप में सोचने का जो ढग हमें मिला हुआ है, या हमने जो ढग अपना रखा है, उसके अनुसार तो सबसे पहला परीपह वध-परीपह होना चाहिए था। कोई किसी को मार दे या वध करदे, तो उसके बराबर तो क्षुधा-परीपह नहीं है। फिर वध को पहला परीपह न गिनकर भूख का ही परीपह क्यों गिना है ? स्पष्ट है कि मानव-जीवन के प्रारम्भ से ही क्षुधा को वध से भी अधिक भयकर माना गया है।

बाब की हमारों आदमी ऐसे विरोधों को मुझ से बुरी तरह छटपटा रहे हैं। वे चाहते हैं कि मुझ की ज्वाला में ठिन्क-ठिन्क करके नश्य होने की अपेक्षा यदि उन्हें नश्व कर दिया जाए तो अधिक अच्छा हो। मुझे बुरकर रोज-रोज बरन और एक-एक प्राण छिड़ना कर गप्ट होने के बजाय एक साथ नर वाला वे कही ज्वाला झीक समझते हैं। नभ और धुआं पसीवह सीमों के से एक को गुमन का कहा बाब तो वे कोश नभ को संभूर करते हैं। कई कोश रीजों के नीचे कट कर वा नून-तालाब के पिरकर हसीकिए करते हैं कि समते अपनी और अपने राक-बन्नी की मुन की पीड़ा नहीं रही वा तकती। वे मुझ की बेरना से कूटकाय जाने के किए ही अपने की बेरना को सहसा स्वीकार कर केते हैं।

“अज्ञानता अस्ति अतीत्येवमा।

अर्थात्—मुझ की पीड़ा के समान और कोई पीड़ा नहीं है।

मैं समझता हूँ कि बाप इस तथ्य को अपनी अनुभव नहीं कर सकते हैं क्योंकि उनकी स्थिति दूसरे प्रकार की है। कोई की व्यक्ति जब तक मुझ और अनुधि की स्थिति में रहता है, तब तक वह मुझ की समझ स्थिति का ठीक-ठीक अनुभव नहीं कर सकता। किन्तु मुझ ही समय पहुँचे की बात है कि आपके गारण में हूँ। दुष्काळ में कोश नभ मुझ के छटपटाते हुए भर रहे हैं तो अपने प्राणी से भी अधिक प्यारे बन्नों की सो-सो अपने में बचते हुए नहीं हिचकते वे और वो रोदिया के नीचे निजों की अपने तरीक की नश्य कर बेठी की। इस प्रमाण से आप सबसे सकते हैं कि मुझ के पीछे दुविदा के चारी-से-चारी दुष्काल और पाप किसे जाती हैं। जब मुझ क्यती है तो अनुभव उनकी दृष्टि के किए क्या नहीं कर मुचछा ?

“बुभुक्षित किं न करोति पापम् ?

अर्थात्—“दुनिया में वह कौन-सा पाप है, जो भूखा नहीं करता है ?” बोला वह देता है, ठगी वह करता है, वह सभी कुछ करता है। और तो क्या, माता और बहिनें अपनी पवित्रता तक को बेच देती हैं ! किसलिए ? केवल रोटी के लिए ।

राक्षसी

●
भूख, वास्तव में एक भयानक राक्षसी है। वह मनुष्य को नृशंस और क्रूर बना देती जब वह अपने पूरे जोश में होती है और उसे तृप्त करने के लिए दो रोटी भी नहीं मिल पाती है, तो पति और पत्नी तक के सम्बन्ध का भी पता नहीं लगता है। और तो क्या, स्नेहशील माता-पिता भी अपने प्राण-प्यारे बच्चे के हाथ की रोटी छीनकर खा जाते हैं।

“बुभुक्षित न प्रतिभाति किञ्चित् ।”

अर्थात्—“भूख के मारे को कुछ भी नहीं सूझता है।” निरन्तर की भूख ने उसकी ज्ञान-शक्ति को नष्ट कर दिया है।

वह कौन-सी चीज थी ? जिसने मेवाड़ के ही नहीं, वरन् समूचे भारत के गौरवस्वरूप महाराणा प्रताप को भी एक बार अपनी स्वाधीनता की साधना के पथ से विचलित कर दिया था ? अपने बच्चों की भूख को सहन न कर सकने के कारण ही तो वे अकबर से सन्धि कर अपनी प्यारी जन्म-भूमि की स्वतन्त्रता को खो देने के लिए विवश हो गये थे। जब प्रताप जैसे दृढ़-प्रतिज्ञ और कष्ट सहिष्णु व्यक्ति भी भूख के प्रकोप से अपने सुदृढ़ सकल्पों से गिरने लगते हैं और ऐसा काम करने के लिए तत्पर हो जाते हैं, जिसकी स्वप्न में भी वे स्वयं

नस्पता नहीं कर सकते व तो बाग के सामान्य जातिधर्मों का ही रहना ही क्या है ? बागकर्म तो एक दिन का व्यवसाय भी वैसी प्रशंसा नहीं अनुभव किया जाता है ।

कृषि



बीजकर्म में मनुष्य की समस्त शक्ति व्यक्त होती है एक करने वाली एक चीज है—कृषि कर्मान् होती । कृषि से जो उत्पादन होता है उससे बहुत से लोगों को जो अर्थकर भुक्त है दरवाजे से सर्व सामान्य की अस्मिता में प्रवेश करती है, रोका या रुकता है । उन विविध-वर्गों पात्रों को रोकने के लिए अतीत जन्म से जन्मान् भूचक्रवर्तन आदि व्यवस्थाओं से तो कृषि आदि के रूप में अत्यन्त प्रयत्न किये हैं, किन्तु बीज के बाग रहना होता कि अन्त में कुछ कोष महापात और महान् आरम्भ की छाया देखते हैं । अपनी जीवन रक्षा के लिए ही जन्म कारणों किन्तु जिस जन्म पर जन-बीजकर्म निर्भर है, उसके सम्बन्ध करने वाले की महापाती रहने । जो जन्म-उत्पादन का कार्य कर रहे हैं वह उन्हें बाह्य-महापाती और उनके कलस्वकर्म परकवासी कहा जाता है तो किसी भी व्यवस्था का जन विवर्धन होता है और हरन दृढ़-दृढ़ हो जाता है ।

हमारे सामने कुछ रहते हैं, हमारी प्राचीन परम्परा कुछ कहती है किन्तु बाग हम दूसरा ही राग आकाशते हैं । जन-संस्थापति समाज की रक्षा के भाग चाहती है किन्तु कुछ बीजकर्म अन्तर्गत बिना नहीं सम्भव ही रहन रहे हैं । जनहीन समाज में अन्तर्गत वाले वाली नी-नी दुर्बला बाग हमारी ही रही है ।

हमारे बाग के विचारों की रक्षा करने कीविधि । मैं आपसे पूछना ॥ कि जन्मान् व्यवस्था में क्या विधा का ? क्या अन्तर्गत सब व्यवस्था के बीजों की महापात और महान् आरम्भ का पक्का व्यवस्था का ?

आप कहेंगे कि तब वे भगवान् नहीं बने थे । किन्तु क्या आप यह नहीं जानते कि उन्हें मति, श्रुत और अवधि ये तीन प्रकार के निर्मल ज्ञान प्राप्त थे । उनका अवधिज्ञान लूला-लगटा या भूला-भटका, अर्थात् विभग ज्ञान नहीं था । वह विशुद्ध ज्ञान था । उस स्थिति में भगवान् ने जो कुछ भी किया, वह सब क्या था ?

प्रागैतिहासिक काल के युगलियों की जनता को खाना तो जरूरी था ही, पर काम नहीं करना था । सर्दी से बचने के लिए कपड़ा या मकान कुछ भी चाहिए, जो आवश्यक ही था, किन्तु वस्त्र या मकान नहीं बनाना था । जीवन तो जीवन की तरह ही बिताना था, परन्तु पुरुषार्थ की आवश्यकता समझ में नहीं आयी थी । इसी स्थिति में चलते-चलते युगलिया-जन भगवान् ऋषभदेव के युग में आ गये । इस युग में कल्पवृक्षों के कम हो जाने से आवश्यकताओं की पूर्ति में गड़बड़ होने लगी, फलस्वरूप जनता भूख में आकुल हो उठी । पेट में भूख की आग सुलगने लगी और तत्कालीन जनता उसमें भस्म होने लगी । उसे देखकर भगवान् के हृदय में अपार करुणा का क्षरना वह उठा और उन्होंने जनता की भूख की सुलगती समस्या को शांत किया । इसी सम्बन्ध में आचार्य समन्तभद्र ने कहा है

“प्रजापतिर्यं प्रथमं जिजीविषु

क्षशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजा ।”

—बृहत्सव्यभूस्तोत्र

हां, तो भगवान् के कोमल हृदय में अपार करुणा का क्षरना बहा और उन्होंने देखा कि यह सारी जनता भूख की ज्वाला से पीड़ित होकर खत्म हो जायेगी, आपस में लड़-लड़कर मर जायेगी, खून की धाराएं बहने लगेंगी, तो भगवान् ने उस अकर्मण्य प्रजा को कर्म की

और पुनर्पार्थ की नव-विजना की तथा अपने हाथों-पैरों से काट केना विनकाया । नरैव्य-विमुक्त प्रजा को कर्मभूमि से अवतरित किया और भूचमरी की समस्या को जगन हाथों मुक्तमाने को लही दिया विन काई । इनने सभ्यों में नहूँ तो इति-कर्म करना विनकाया ।

बाल का बाला और तन का कपन—दोनों इति से प्राप्त होते हैं । विनकी की प्रमुख भावस्वरूपार्थ केवक दो ही हैं । बाल और कपन । बचरा के दोलाइक में लही प्यवि पृथगी है कि 'पेरी और कपन चाहिए । जोर का समार नुरी महुलो में जानन कर एहा का और हचापों की संख्या में प्रजा-जन भुक्त से अवतरते नीचे के बाबाव क्वाते हुए नुनरे कि—“पेरी की या नही कोरी ।

बहु भावाव नुनर समार में पात में हैं। हुए महावंशी के पुत्र नवा बचरा से बचावत कर ली है ? महावंशी ने कहा—“बहु बचावत लही नाति है । और महावंशी के पुत्र से निनके हुए 'बाल' लारे संसार में पैक नमे कि 'भुक्त से बचावत लही इतिभाव होता है ।

हो तो बचवान् भूचमरेव एतकीन लूची जनता की देखकर कोरे बाबावंशी से लही रहे न एव तन लूची की बचराव का कपन हो दिया और न लानु जन जाने या संसार करने की बकाह ली ली ।

बचवंशी होने के नात उन्होंने सोचा कि बचरा की बरि लही एस्ते पर नहो के जाया गया तो बहु महा-भारत के एस्ते पर लही बावंशी और माहाहार के नव पर बककर और हिंसा हो बावंशी । एक बार बरि महा-हिंसा के नव पर बल पड़ी ली फिर लहे नोदना मुक्ति हो जाले । बचएव उन्होंने भुक्त के नारन महा-भारत की और जानी हुई लोकी जानी जनता की बाल दिया की और लारी का प्रबल दिया ।

आर्यत्व



जहां-जहां कृषि की परम्परा चली और अन्न का उत्पादन हुआ, वहां-वहां आर्यत्व बना रहा और महारभ न होकर अल्पारभ का प्रचलन हुआ। परन्तु जहां कृषि की परंपरा नहीं चली, वहां के मूखे मरते लोग क्या करते ? तब आपस में वंर जगा, और क्षुधाजन्म क्रूरता के कारण पशुओं को मारकर खाने की प्रवृत्ति चालू हो गई। वात्पर्य यह है कि—“कृषि 'अहिंसा' का उज्ज्वल प्रतीक है। जहां भी कृषि अग्रसर हुई है, वहां के जन-जीवन में उसने अहिंसा के बीज डाले हैं। और जहां कृषि है, वहां पशुओं की जरूरत भी अनिवार्यत रहती है, फलतः उनका पालन भी स्वाभाविक है। इस प्रकार कृषि अहिंसा के पथ का विकास करती रही है। कृषि के द्वारा प्रवाहित होने वाली अहिंसा की धारा मनुष्यों के अतिरिक्त पशुओं की ओर भी बही है। इस प्रकार जहां-जहां खेती गई है, वहां-वहां वह अहिंसा के सिद्धान्त को लेकर गई और जहां कृषि नहीं गई, वहां अहिंसा का सिद्धान्त भी नहीं पहुंचा।

मेक्सिको 'के निवासी मछली आदि के शिकार के सिवाय कोई दूसरा काम-धन्धा नहीं कर पाते हैं। कल्पना कीजिये—यदि कोई जैन सज्जन वहां पहुंच जाये, तो देखेगा कि लोगों के हाथ रात-दिन खून से किस तरह रंगे रहते हैं, क्योंकि जानवरों का मांस चमड़ा, चर्वी आदि का उपयोग किये बिना उनके लिए कोई दूसरा साधन ही नहीं है। ऐसी स्थिति में यदि वह जैन उन्हें जैन-धर्म का कुछ सन्देश देना चाहे, उस हिंसा को रोकना चाहे और यह कहे कि—मछली, हिरन, सूअर वगैरह किसी जीव को मत मारो, तो वे लोग क्या कहेंगे ? तब वे उससे पूछेंगे कि फिर हम खाए क्या ? और जब यह

प्रत्येक ली के लिये जो वह क्या उत्तर देना ? कम्पनी ली के लिये, यदि आप स्वयं नहीं पहुँच सके हैं तो क्या उत्तर देने ? यदि आप उन्हें बहिष्कृत बनाना चाहते हैं तो क्या प्रयास करेंगे ? क्या आप उन्हें सारा के लिए आमरण न्याय के रूप में "बोधिरे-बोधिरे" कहेंगे ? यदि नहीं तो वे भूख पीथित रहकर क्या करेंगे ? क्या खाएँगे ? तब वह प्रत्येक ली के लिये होना ? यदि जीवन के लिए कोई समुचित व्यवस्था नहीं करेंगे तो आप पाषाण बनकर ही छोड़ेगे ।

आपने बहिष्तात्पक समुच्च बहुरूप के लिये कृपि फिन्नी तुम्हारे बीच है । फिर ली के लिये व्यवस्थित रूप को ली बहुरूप करते हैं जब कि कृपि "बहिष्ता" का आदर्श लेकर आती है । उसमें मानव-वांछ को कर कर बहुरूप होने से रोका है । मनवांछी होने से बचता है । और उसमें आदर्श आपत्ति के बीच आते हैं । उसके समुच्च की लाना-बिक्रम चलती हुई है । और वहाँ कृपि नहीं पड़ी वहाँ के बीच बोर हिंसक भाव आती और नरवांछ-बहुरूप तक बन बन है ।

स्वार्थान्ध भावित भावों से ली प्रकाश के विभिन्न तुम्हों का वर्धन है । उसमें ली सबसे पहले "अन्त-मुच्च" उत्पन्न होता है और जब स्कार-मुच्च का सबसे आखिर से आकाश दिया गया है । क्योंकि जब पहले अन्त पैट से पड़े ली पीछे नमस्कार करने की मूढ़े । जब पैट में अन्त ही नहीं होता और उसके लिए हृदय उत्पन्न रहता है । ली बीच बिसर्ग नमस्कार करता है ?

अन्त मुच्च-आकाश के द्वार पर जब से पहले अन्त-मुच्च ही आता है, और दूसरे ली मुच्च उसके पीछे चले जा रहे हैं । तब अन्त के उत्पादन को ही बहुरूप और नरक का आदर्श बनाना बुद्धि का विकार नहीं तो और क्या है ?

त्याज्य नहीं



वैदिक-धर्म के उपनिषदों और पुराणों का मैंने अध्ययन किया है। उपनिषद् कहते हैं—“अन्न वै प्राणा” अर्थात् “अन्न प्राण है।” इस सम्बन्ध में सुविख्यात सन्त नरसी मेहता ने भी कहा है—

“भूखे भजन न होहि गोपाला,
यह लो अपनी कठी माला।”

कोई भूखा रहकर यदि माला पकड़ेगा भी, तो कब तक पकड़े रहेगा ? भूख के प्रकोप से वह तो हाथ से छूटकर ही रहेगी। इसी-लिए सन्त नरसी ने ठीक ही कहा है कि—गोपाल, अब भूखे से भजन नहीं होगा। लो, यह अपनी कठी और लो, यह माला भी सम्हालो। अब तो रोटी की माला जपूंगा और सब से पहले उसी के लिए प्रयत्न करूंगा।

इस प्रकार वैदिक-धर्म “अन्न को प्राण” कहता है और जैन-धर्म अन्न के दान को ‘सब से बड़ा दान’ सर्व प्रथम दान मानता है और भूख के परीपह की पूर्ति को पहला स्थान बतलाता है। इस तरह से एक-से-एक कठिया जड़ी हुई हैं। इस अन्न की प्राप्ति कृषि से ही होती है, और इसी कारण भगवान् ऋषभदेव ने युग की आदि से जनता को कृषि कर्म सिखाया और बताया। जैन-शास्त्रों में कहीं भी जन-साधारण के लिए कृषि को त्याज्य नहीं कहा गया है।

अन्न का महत्व



घर पर जो बरामदे दिए गेटी अनिवार्य है। और रोटी वाली बालू न ही जो मानव जीवन नहीं रह सकता। अगर बताया और घर पर नाच नाच रह गये हैं तो गेटी के साथ महिला का जो संबंध रह सकता है। गेटी और महिला मानव न विरोधी चीज नहीं है। हम दोनों में सामंजस्य रह सकता है। यदि ये दोनों साथ-साथ नहीं रह सकते तो या तो हमें महिला वाली मान्यता की संरक्षण से वंचित रहना पड़ेगा या हमें घर पर की संरक्षण से वाली पटी से वंचित रहना पड़ेगा। दोनों ही स्थितियों में जीवन अनभव है। मान्यता और घर पर के सहारा से ही जीवन नभव है। इसलिए हमें कोई ऐसा रास्ता पता लगा ही होगा जिससे महिला और रोटी दोनों का सह-अस्तित्व संभव हो सके।

सर्वमान्य जीवन का आधार रोटी है। यह तो विनिश्चित ही है। किन्तु रोटी कौसी चाहिए, किस रूप में चाहिए और यह कहाँ से आनी चाहिए, ये प्रश्न महत्व के हैं। यदि रोटी प्राप्त करने के लिए हम महा-हिंसा या महा-मारण करते हैं तो यह रोटी बचत रोटी वाली हिंसामय रोटी होती और उसका स्पर्श हिंसा की प्रेरणादायक करने वाला होता। अगर सम्पूर्ण ईश्वर से आर्थिक प्रमाण है और सम्पूर्ण सामाजिकता से रोटी प्राप्त हुई है तो यह हिंसा से महिला की ओर बढ़ने के लिए सहायक बन सकेगी।

रोटी कमाने के साथ अनेक सामन्य हैं। कुछ जीना सपटी घर पर और बाहर के अनेक ऐसे घरों के हैं जिनके सम्मुख हैं रोटी प्राप्त

की जाती है। जिस रोटी के पीछे शोषण और अनतिक्रता है, वह रोटी आत्मा की खुराक के साथ यानी अहिंसा के साथ नहीं चल सकती। रोटी अमृत भी है और जहर भी है। यदि वह शुद्ध साधनों से ओर सम्यक् आजीविका द्वारा उपाजित रोटी है, फिर वह चाहे रुखी-सूखी ही क्यों न हो, अमृत तुल्य है। परन्तु दुनिया भर का सुन्दर भोजन चाहे मिल जाय, पर यदि वह भोजन प्राप्त करने के लिए किसी की हिंसा हुई है, किसी का शोषण हुआ है, या किसी का खून बहाया गया है, तो वह मधुर मिष्टान्न भी जहर के समान ही है।

अनार्य मार्ग

१७

भगवान् ऋषभदेव ने कहा है कि अनार्य मार्ग से रोटी पैदा मत करो। जहाँ दूसरों का खून बहाया जाता है, वह अनार्य मार्ग है। मजदूर का शोषण करना, किसी का हक छीनना, सट्टेबाजी करना, जुआ खेलना आदि सब अनार्य कर्म हैं। इन अनार्य कर्मों के माध्यम से जो रोटी आयेगी, वह अपने साथ पापों की गठरी लेकर आयेगी और जीवन को पतित करेगी।

हमारे यहाँ “प्रासुक” शब्द की बड़ी चर्चा है “प्रासुक” वे काम कहलाते हैं, जिनमें हिंसा न हो या अत्यल्प हो। दो जुएबाज आमने-सामने बैठे ताश के पत्तों से खेल रहे हैं। हर बाजी की समाप्ति पर हजारों दे रहे हैं और हजारों ले रहे हैं। इसमें स्थूल रूप से देखा जाय तो किसी की हिंसा नहीं होती। परन्तु जुआ खेलना अत्यन्त हीन कार्य, अनार्य मार्ग और एक नीचातिनीच दुर्व्यसन माना गया है। इसलिए “प्रासुक” क्या है इसको भी अच्छी तरह से समझना पड़ेगा। जुआरी का अन्त करण कितना क्लेशमय, व्याकुल रहता है और जुए की बदौलत मन की वृत्तियाँ कितनी दूषित होती हैं, समाज का पुरुषार्थ कितना गिरता है, इन सब चीजों को लक्ष्य में रखकर ही जुआ खेलना

पाप बढ़ाया गया है। इन कारागृहों से यह स्पष्ट हो जाता है कि अहिंसा का संबंध विनया यम की वृत्तियों से है। यचना बाह्य व्यवहारों के नहीं।

अन्ध का अभी भी बचावर नहीं करना चाहिए। उपनिषदों में कहा गया है कि 'अन्ध न निघ्रात्' यानी अन्ध की बचड़ेबना और निम्ना नहीं करनी चाहिए। इनीषिद् भारतीय संस्कृति में बृहन् छोड़ना भी पाप माना गया है; क्योंकि उसके अन्ध का बचावर होता है। अन्ध का एक एक बाना सोने के बाने से भी ज्यादा मूल्यवाना है। सोने के बाना में कोई घर नहीं लकड़ा परन्तु अन्ध के बचान में हजारों कामों ने हाथ दे दिए। व्यक्तिगत आने पर ही अन्ध का महत्त्व समझा हुआ है। यदि अन्ध न रहा तो वे कभी पकड़वित हो पायेंगे। इसलिए अन्ध के महत्त्व को ठीक तरह से समझना चाहिए और उनके अनुसार जीवन में जो अन्ध की समझना है उनके समाधान का उपाय निकालना चाहिए। /

किशान खेती-बाड़ी का रंभा करता है। पशु पक्षि के हाथ रोटी कमाता है और पशु होते हुए भी ज्ञान नीति की परीक्षा ले रहा है। कुशल परिवार कसाई का है। उसके गधा हीरे और बज्रहाथ के डेर करने रहते हैं। यह कुछ कभी बचकर आत्म-कल्याण के हाथ जीवन बिताता है। उन दोषों में खेपठ रंजित है? क्या यह निकले गधा बगल का डेर लगा हुआ है? या वह भी पशु है, पर पशुपति है और कृषि करता है? इस अन्ध का बचर स्पष्ट है। बगल का महत्त्व नहीं है अन्ध का महत्त्व है। बगल कसाई को भी बगल किशान के पास था कर अन्ध लेना पड़ेगा। बिना अन्ध के वह अपने प्रभु बगल के अपनी मूल्य नहीं मिला सकता और अपने जीवन को भी सुरक्षित नहीं रख सकता।

दो यात्री चले जा रहे हैं। जंगल में भटक गये। उन दोनों को भूख लगी। भूख के मारे छटपटाते हुए वे चल ही रहे थे कि उन्हें अकस्मात् दो थैले मिल गये। उन दोनों थैलो को वे यात्री आपस में एक-एक बांट लेते हैं। दोनों अपने-अपने थैले को खोलते हैं। एक में भुने हुए चने निकलते हैं और दूसरे में हीरे मोती। इन दोनों यात्रियों में कौन भाग्यशाली है ? क्या वह, जिसे करोड़ का धन मिल गया ? या वह, जिसे भूख बुझाने के लिए भूने हुए चने ही मिले ?

जिस अन्न का इतना महत्त्व है, उसकी निन्दा करना सर्वथा अनुचित है और पाप है। अन्न के उत्पादन को महा पाप बताना, स्वयं ही एक महा पाप है। जिस देश में बच्चों, बूढ़ों, महिलाओं और जवानों को खाना नहीं मिलता, उस देश की व्यवस्था करने वालों के लिए वह एक बड़ा अपराध है। खाने की मात्रा कम मिलना, व्यवस्था को दोषपूर्ण सिद्ध करता है और पाप को प्रगट करता है। अन्न की कमी का पाप अन्य हजारों पापों को पैदा करने वाला है।

पृथिव्या त्रीणि रत्नानि जलम्, अन्नं, सुभाषितम्
मूढैः पापाणस्त्रण्डेषु रत्नसंज्ञा विधीयते॥

इस पृथ्वी पर तीन ही रत्न हैं। जल, अन्न और सुभाषित वाणी। जो मूढ़ हैं जो अज्ञानी हैं, वे पत्थर के टुकड़ों में रत्नों की कल्पना करते हैं।

भात का यह यथार्थवादी आश्चर्य अन्न की गणना रत्नों में करता है। उस की दृष्टि में दूसरे सब रत्न पत्थर के टुकड़े हैं, अन्न ही मौलिक रत्न है। उस पर ही सारी सृष्टि का आधार है। यदि खाने को अन्न मिलता है तो धन कमाने के लिए हाथ भी उठेगा और यदि पेट में अन्न नहीं है, तो किसी भी काम के लिए प्रेरणा नहीं मिलेगी।

जल की उम्ला जीवन की उम्ला है। जल का व्यवहार करने वाला राष्ट्र सबसे अव्यभिक्त होने को बुझिया तैयार कर रहा है। जिस देश के लोग जल की हीन दृष्टि में देखते हैं उस देश के लोगों को बुझिया की हीन दृष्टि में देखने लगती है।

सोज करें



यह जल का महत्व है। इसलिए देश के महत्व की अस्तीदार न कर जल प्राप्त करने में जिस तरह हिंसा कर ली और इन छिपे तरह अहिंसा की ओर गई। इसकी शोच करनी चाहिए। जिस तरह के आदि युग में कुम्भार, शीशान का और पिपार का व्यवसाय का जीवन विचारणीय लोगों ने अनुमान कर के जल का आविष्कार दिया उसी तरह वह शक्ति की जल की शोच आती रहनी चाहिए कि जल को प्राप्त करने के लिए जिस तरह हिंसा को बल दिया आज और अहिंसा की तरह प्रवृत्ति की आज। आज हमने यह अवलोकन दृष्टि छोड़ दी। हमें यह भ्रम उत्पन्न हो रहे है। जल को भी हमें लिए हिंसा बल और त्याग करने आज दिया गया है। अगर हमारा क्लेश वैधानिक है तो हम जिस-जैसे अनुभव कर रहे और अहिंसा को दिया मे करने के लिए जसे-जसे मार्ग शोच विचारने।

विज्ञान-युग



आज विज्ञान का युग है। समुद्र गहिरा कर विज्ञान ज्ञान कर रहा है। पहली कर सागरी कर और आकाश कर समुद्र विज्ञान कर विज्ञान ज्ञान कर रहा है। विज्ञान की उपायों को लाने में

वह सफल हो गया है। समुद्र की गहराई को मापने में भी वह दक्षता प्राप्त कर चुका है और आकाश की अनतता को भी आज अपनी भुजाओं में वह बाध लेना चाहता है। गहो और नक्षत्रों पर भी वह अधिकार कर लेना चाहता है। इस तरह से भौतिक क्षेत्र में विविध प्रयोग और विविध अन्वेषण चल रहे हैं। तब आध्यात्मिक क्षेत्र में और अहिंसा के क्षेत्र में मनुष्य ने अपने प्रयोग करना बंद क्यों कर दिया है, यही आश्चर्य की बात है।

वर्तमान समाज की एक सबसे बड़ी ट्रेजेडी यह है कि आज के विचारक धर्माधर्म की मध्यकालीन पुरानी परम्पराओं के आधार को छोड़कर नये सिरे से कोई भी विचार न तो ग्रहण करने को तैयार हैं और न नया चिंतन करने को ही प्रस्तुत हैं। जो हमारे पतन काल की विचारधारा घिसी-पिटी चली आ रही है, उसीकी पकड़ आज भी चल रही है। इसीलिए धर्म 'अपटु डेट' नहीं रहकर 'आउट आफ डेट' बनता जा रहा है। आज के युवकों में और आज के बुद्धिजीवी विचारकों में इस धर्म के प्रति धीरे-धीरे अनास्था और अश्रद्धा होती जा रही है। परन्तु यदि हम लोग नई दृष्टि से, वैज्ञानिक दृष्टि से और तार्किक दृष्टि से धर्म को जीवन का उपयोगी तत्त्व बनाये और मानवता के प्रश्नों पर उदारतापूर्वक सोचें, तो धर्म की उपयोगिता को प्रत्येक व्यक्ति अवश्य स्वीकार करेगा। यही बात अहिंसा और श्रृष्टि के सम्बन्ध में लागू होती है। इस सम्बन्ध में हमने नया चिंतन तो किया नहीं और पुराने चिंतन को समझा नहीं, इसलिए सारे भ्रम पैदा हो रहे हैं। अब समय आ गया है कि जब हम उन भ्रमों को दूर करें और तटस्थ दृष्टि से विचार कर के सत्यासत्य का निर्णय करें।

अहिंसा की उपलब्धि



हिंसा और अहिंसा का प्रश्न तो हमेशा बहल रहा है कि जब तक महात्मा ने पहुँचकर हम डीक-डीक विचार नहीं कर बैठे तब तक हमकी वास्तविक चपरेबा हमारे सामने नहीं आ सकती। प्रायः ऐसा जाता है कि लोग लोगों को पकड़कर बंध बैठते हैं। बल्लू हमके हाथ में किसी वस्त्र का केवल एक छोटा साप ही रह जाता है और बल्लू एक शत्रु विपुल जाता है। तब बल्लू कोई मुक्त नहीं होता। वह तो केवल मार है। हिंसा और अहिंसा के सम्बन्ध में भी आजकल वही दुरवस्था जाता है। प्रायः लोग हिंसा-अहिंसा के सम्बन्धों को ऊपर ऊपर से पकड़ कर बैठ गये हैं। इस कारण इन सम्बन्धों के भीतर का अर्थ हमकी समझ में नहीं आ सका।

यह एक समझी बर्षा है। प्रायः लोग जब इस प्रश्न पर विचार करने के लिए वास्तवों के समीप पहुँचते हैं, तो पहले के ही कुछ संकल्प रखकर पहुँचते हैं और जब इस सवाल पहुँचते हैं, तो उनका संकल्प एक और टकराता है। तथा वास्तवों की आवाज सुननी और सुनाई देती है। ऐसी स्थिति में प्रायः संकल्प की आवाज गुन गुन की जाती है और वास्तवों की आवाज के स्वर दूर भाग बैठते हैं। परन्तु इससे सवाई लाभ नहीं आती है, वास्तविकता का पता नहीं चलता। किन्तु आत्म-अनुभव मात्र ही जाता है। अतएव यह आवश्यक है कि किसी भी वस्तु पर विचार

करते समय हमारी बुद्धि निष्पक्ष हो क्योंकि तटस्थ बुद्धि से ही सच्चा निर्णय प्राप्त हो सकता है ।

पहले हमारी बुद्धि विकसित थी, तो हम आग्रह को, अहंकार को और किसी भी व्यक्ति विशेष को महत्त्व न देकर केवल सत्य को ही महत्त्व देते थे और सत्य की ही पूजा करते थे । जहां सत्य की पूजा होती है, वहां ईश्वर की प्रतिष्ठा है । किसी देवालय में नारियल चढ़ा देना, नैवेद्य चढ़ा देना या मस्तक झुका देना सच्ची ईश्वरोपासना नहीं है, किन्तु मन-वचन-कर्म से सत्य की पूजा करना ही ईश्वर की सच्ची आराधना है ।

जो मनुष्य तटस्थ भाव से आगे बढ़ता है और अपने बद्धमूल मान्यताओं के आग्रह को ठुकरा देता है और उसके बदले में सामने आने वाले सत्य के समक्ष नत-मस्तक हो जाता है, वही मर्म को पा सकता है । वही अपने जीवन को कृतार्थ कर सकता है । चाहे वह तरुण हो या बूढ़ा, गृहस्थ हो या साधु, वह अपने आप में बहुत ऊपर उठ सकता है । उसके जीवन की गति ईश्वरीय प्रगति है । वह अपनी महत्ता को अधिकाधिक ऊंचाई पर ले जाता है और गिरावट की तरफ अग्रसर नहीं होता ।

इसीलिए हमारे आचार्यों ने यह कहा है कि आप व्यक्ति को महत्त्व क्यों देते हैं ? हमारे गुरु ने ऐसा कहा या वैसा कहा, ऐसा कहकर आप एक ओर तो लाठियां चलाते हैं तथा दूसरी तरफ सत्य, जो तटस्थ भाव से सन्मार्ग का निर्देशन कर रहा है, उसकी पुकार तक नहीं सुनते । इस सोचनीय स्थिति को देखकर दुःख होता है कि यह कैसी गड़बड़ चल रही है । अतएव हमें भली भांति समझ लेना चाहिए कि सत्य का महत्त्व सर्वोपरि है और उसकी तुलना में व्यक्ति का जो महत्त्व

है, यह केवल उद्यम की ही बरीकत है। सम्प्रदाय का चमत्कार का भीर व्यक्ति का महत्त्व एक मात्र उद्यम के ही पीछे है। उद्यम का महत्त्व ही व्यक्ति को महत्त्वमय बना है।

इस सम्प्रदाय में भीमाचार्य बहुत बड़ी भूमिका बने हैं। भीमाचार्य हरिदास बने ही बहुमुखी विद्वान् ही बने हैं। विनयी विद्वत्ता को यहाँ मात्र की काली जाना ही मुश्किल नहीं बना सकी। उनका जमाना भी उन भीमाचार्य के सामने एक रंग है। वे कहते हैं:

‘‘अस्मत्ता तो न है भीर, न है च कल्पितमिदम् ।

मुक्तिमार्गदर्शक एव एव कर्मः परिच्छिन्नः ॥

अन्तर्गत महावीर के प्रति हमें व्यक्तिगत सम्बोधन नहीं है। वे हमारे व्यक्ति विराटों के नहीं। और उनके-सम्बन्धी भी नहीं है। तथा व्यक्ति विराटों को जान नहीं हो चुके हैं, उनके प्रति हमें केवलमान भी है और नहीं है। जो भी मात्र के उपायक मात्र एक प्रकार में जाने हैं, हम उन उनके विचारों का महत्त्व प्रति से सम्बोधन करते हैं, उन उनके व्यक्ति का विचार। अन्तर्गत और विराटों करते हैं। उनके विचार मात्र की विचार कभीभी नर करे करते हैं, मुक्तिमार्ग कर्म है वहीं के विचारों को विचार मात्र से हम स्वीकार करते हैं और वहीं का मात्र-सम्बोधन भी करते हैं।

ऐसा मान्य प्रमाण है कि भीमाचार्य ने अन्तर्गत को भी विराटों की उपाय पर एक दिया है। अन्तर्गत भीमाचार्य एक मात्र को पीछे रहे हैं। जो विचारों से भीर उपायविचारों के उपायक विचार का रहा है। यदि इस उपाय पर किसी सम्प्रदायविचारों को विचार मात्र तो यह विचार नर भूत नहीं करते हैं। क्योंकि विचारों की सम्प्रदाय है। अन्तर्गत मात्र की विचारों के विचारों की विचारों ही हैं। अन्तर्गत मात्र की विचारों है, यह मात्र का विचारों विचारों है।

असीम अनुकम्पा



अस्तु, कथन का भाषय यही है कि दूसरे सम्यक्त्व में तो विचार-सम्बन्धी आशिक मेल चल सकता है, परन्तु क्षायिक सम्यक्त्व में अणु-मात्र भी नहीं खप सकता। भगवान् ऋषभदेव की प्रवृत्ति क्षायिक सम्यक्त्व की भूमिका से आरम्भ हुई है और जहाँ क्षायिक सम्यक्त्व है, वहाँ असीम अनुकम्पा है। ऐसा तो कभी हो ही नहीं सकता कि सम्यक्त्व तो प्रगट हो, परन्तु अनुकम्पा प्रदर्शित न हो ? यह कदापि सम्भव नहीं है कि सूर्य हो, परन्तु प्रकाश न हो, मिश्री की डली हो, किन्तु मिठास न हो। ऐसी असंगत बात कभी बनने वाली नहीं है। तो निष्कर्ष यही निकला कि सम्यक्त्व के साथ अनुकम्पा का अविच्छिन्न सम्बन्ध है अर्थात् अनुकम्पा के बिना सम्यक्त्व टिक नहीं सकता। अनुकम्पा के अभाव में सम्यक्त्व की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

जब इस दृष्टि से विचार करेंगे तो स्पष्ट अनुभव होगा कि भगवान् की जो भी प्रवृत्तियाँ हुई हैं, उनके पीछे अनुकम्पा तो अवश्य ही रही होगी। दया का क्षरना तो निरंतर बहता ही रहा होगा और उस बहाव के साथ सारी क्रियाएँ भी हुई होगी। तो उस युग की तत्कालीन परिस्थितियों में, जब कि जनता पर विपत्तियों के घने बादल छाये हुए थे, भयानक सकट मुहँ बाये खड़ा था और लोगो को अपने प्राण बचाने दुर्लभ थे, आखों के सामने साक्षात् मौत नाच रही थी, उस सकट काल में भगवान् ऋषभदेव ही एकमात्र सहारे थे, वे ही जनता के लिए आशा की प्रकाश-किरण थे। कर्णानिधि भगवान् ने जनता को उस भीषण सकट से उबारने के लिए ही कृपि सिखायी, उद्योग-धन्धे सिखलाए और शिल्प-कार्य बतलाये। भगवान् की यह प्रवृत्ति किस रूप में हुई ? वस्तुतः वह हिंसा के रूप में नहीं हुई, जनता को गलत

भी पैदा नहीं था। वहाँ नहीं भी बोझ-बहुत प्रतिक्रिया होती है वहाँ सामोपस्य सम्बन्ध अनेक प्रकार का होता है और वहाँ पुर्बता है वहाँ घेर नहीं होता। वही कारण है कि अहिंसा आदि सामोपस्यिक शक्तों के वहाँ संकटों भय बिनाये गये हैं, वहाँ आधिन-आन अर्थात् 'सैवक' काय एक ही प्रकार का बताया गया है।

इसी प्रकार सामोपस्यिक सम्बन्ध के भी अर्थक्य घेर है तब आधिन सम्बन्ध से ही वह विविष्टता क्यों आई? यदि इसमें विम्यात्र मोहनीयमान विचारों का भरा भी पैदा होता तो अन्तर्गत ही किसी-किसी अंश में घेर प्रकट हो जाता। वहाँ अपुर्बता है, वहाँ निम्नता अनिवार्य है और वहाँ अविन्यता एवं अचङ्गता है वहाँ पुर्बता विद्यमान है। आधिन सम्बन्ध की भुविता इसी विमृष्ट है कि वहाँ दर्शन सम्बन्धी विचारों का पैदा अनुमान भी नहीं रहा तो वह अचङ्ग विनि कल हो जाता है।

हो तो भयभाव की विवेक आधिन सम्बन्ध प्राप्त था। आधिन तनिक अनुमान कीविदे कि कलके लिए किसी अनुकम्पा होनी चाहिए? तब अन्तर्गत विवेक अनुकम्पा और नास्तिक्य से तब सम्बन्ध के ही अन्तर्गत है। किन्तु जो पुन कलके अधिक अन्तर्गत हुआ है और विवेक सम्बन्ध की परत की आती है वह है अनुकम्पा।

अन्तर्गत के अन्तर्गत में किसी गया विविष्टता और किसी अनुकम्पा भी? कलके अन्तर्गत में कलका का सागर कलका रहा था। वे भी भी अन्तर्गत करती अन्तर्गत के ही अनिवार्य हिंसा हो, परन्तु कल हिंसा के पीछे भी कलका किसी रहती भी। अन्तर्गत आधिन कलके कि अन्तर्गत और अन्तर्गत की एक विद्या का रहा है। किन्तु ऐसा नहीं है। हिंसा तो अन्तर्गत अन्तर्गत अन्तर्गत आन्तर्गत में होती है परन्तु विचार में तो अन्तर्गत और कलका का विवेक अन्तर्गत अन्तर्गत रह अन्तर्गत है।

जोर, अत्यारम्भ की जोर ही जाएं। यदि ये अत्यारम्भ से महारभ की ओर चले जाते, तो दुःसा बच होता "प्रवाद में अधकार की ओर ले गए।" उन्होंने बोली, भूमी और गमस्त जनता को ऐसा पतन्य बताया कि यह महारभ से बच जाय। पाष ही पेट की अटिल गमस्या भी हल कर मने जोर अपनी जोरन-पद्धति का मानवोचित प्रशस्त पथ भी अच्छी तरह ग्रहण कर ले।

अनिवार्य



आज मैं उद्योग धंधे के रूप में जो हिंसा होनी है, उसमें इन्कार नहीं किया जा सकता। जैन धर्म छोटी-छोटी प्रवृत्ति में भी हिंसा बताता है। गृहस्थों की बात जाने भी दें, और बैरल समार-त्यागी साधुओं की ही बात लें, तो उनमें भी शोध, मान, माया और लोभ के विकारयुक्त भ्रम मौजूद रहते हैं। उमीलित उन्हें भी पूर्णतया अहिंसा का प्रमाण-पत्र नहीं मिल जाता है। साधु-जीवन में भी "मायावत्तिया" प्रिया चानू रहती है। जब पूरा अप्रमत्त अवस्था आती है तो आरभिया क्रिया छूट जाती है, किन्तु हिंसा फिर भी बनी रहती है और आगे भी जारी रहती है। यद्यपि उस हिंसा में आरभ छूट जाता है। उस दशा में हिंसा रहती है, पर आरम्भ नहीं रहता यह एष मार्मिक बात है। इस मर्म को बराबर समझने की कोशिश करनी चाहिए। इसका अर्थ यह है कि वहाँ गमनागमनादि प्रवृत्ति में द्रव्य-हिंसा के भाव न होने से भाव-हिंसा नहीं है। ज्यों ही साधक जागृत होता है, त्यों ही उसमें अप्रमत्त भाव उत्पन्न हो जाता है। जब अप्रमत्त भाव होता है, तब भी बाह्य क्रिया स्वरूप द्रव्य-हिंसा तो बनी रहती है, किन्तु उसमें आन्तरिक भाव-हिंसा नहीं रहती।

स्फोट-कर्म



खेती में महारथ है, इस प्रकार का भ्रम कैसे उत्पन्न हो गया ? समग्र जैन साहित्य में “फोटीकम्मे” ही एक ऐसा शब्द है, जिसने इस भ्रम को उत्पन्न किया है। पर, हमें “फोटीकम्मे” के वास्तविक अर्थ पर ध्यान देना होगा। “फोटी” शब्द मम्भृत के “म्फोट” शब्द से बना है, जिसका अर्थ है घड़ाफा होना। जब सुरग खोदकर उसमें बारूद भरी जाती है और तदुपगन्त उनमें आग लगाई जाती है, तो घड़ाफा होता है और बड़ी-से-बड़ी चट्टान भी टुकड़े-टुकड़े होकर धधर-उधर उछलकर दूर जा गिरती है। आज के अखबार पढ़ने वाले जानते हैं कि अमेरिका और रूस आदि के वैज्ञानिक लोग जमीन के अन्दर बारूद बिछा देते हैं और जब उसमें चिनगारी लगती है तो विस्फोट होता है। आशय यही है कि बारूद के द्वारा घड़ाफा करना विस्फोट या स्फोट कहलाता है। न केवल पहाड़ तोड़ने के लिए बल्कि युद्ध में भी बमों का स्फोट (विस्फोट) होता है। आजकल तो अणु बम-विस्फोट पूरी मानव-जाति के लिए खतरे की घन्टी है। इस तरह के धार हिंसाजन्य स्फोट कर्म का निषेध होना ही चाहिए। परन्तु कृपिकार्य को स्फोट कार्य मानना सर्वथा भूल है।

खेती करते समय विस्फोट नहीं होता। खेती में बारूद भरकर आग नहीं लगाई जाती, वह तो हल से ही हो जाती है। मैंने एक बालक से प्रश्न किया—किसान खेत में हल चलाता है। इसके लिए जमीन को “जोतना” कहा जायेगा या “फोड़ना” कहा जायेगा ? इन दोनों प्रयोगों में से शुद्ध प्रयोग कौनसा है ? उस बालक को भी “जोतना” प्रयोग ही सही मालूम हुआ। आशय यह है कि हल के द्वारा जमीन जोती ही जाती है, फोड़ी नहीं जाती। हल से जमीन

स्फोट-कर्म



खेती में महारभ है, इस प्रकार का भ्रम कैसे उत्पन्न हो गया ? समय जैन साहित्य में “फोडीफम्मे” ही एक ऐसा शब्द है, जिसने इस भ्रम को उत्पन्न किया है। पर, हमें “फोडीफम्मे” के वास्तविक अर्थ पर ध्यान देना होगा। “फोडी” शब्द नम्रुत के “स्फोट” शब्द से बना है, जिसका अर्थ है घडाका होना। जब सुग्ग खोदकर उसमें बारूद भरी जाती है और तदुपगन्त उसमें आग लगाई जाती है, तो घडाका होता है और बड़ी-मे-पटी चट्टान भी टुकड़े-टुकड़े होकर धधर-उधर उगलकर दूर जा गिरती है। आज के अखबार पढ़ने वाले जानते हैं कि अमेरिका और रूस आदि के वैज्ञानिक लोग जमीन के अन्दर बारूद बिछा देते हैं और जब उसमें चिनगारी लगती है तो विस्फोट होता है। आशय यही है कि बारूद के द्वारा घडाका करना विस्फोट या स्फोट कहलाता है। न केवल पहाड़ तोड़ने के लिए बल्कि युद्ध में भी बमों का स्फोट (विस्फोट) होता है। आजकल तो अणु बम-विस्फोट पूरी मानव-जाति के लिए खतरे की घन्टी है। इस तरह के घार हिंसाजन्य स्फोट कर्म का निषेध होना ही चाहिए। परन्तु कृपिकार्य को स्फोट कार्य मानना सर्वथा भूल है।

खेती करते समय विस्फोट नहीं होता। खेती में बारूद भरकर आग नहीं लगाई जाती, वह तो हल से ही हो जाती है। मैंने एक बालक से प्रश्न किया—किसान खेत में हल चलाता है। इसके लिए जमीन को “जोतना” कहा जायेगा या “फोडना” कहा जायेगा ? इन दोनों प्रयोगों में से शुद्ध प्रयोग कौनसा है ? उस बालक को भी “जोतना” प्रयोग ही मही मालूम हुआ। आशय यह है कि हल के द्वारा जमीन जोती ही जाती है, फोडी नहीं जाती। हल से जमीन

का छोड़ना तो दूर रहा कभी-कभी तो पसीन बोवी भी नहीं आती। खोदना तब कहलाता है जब गहरा गहरा फिटा बाध। हाँ एक से जमीन फुरेरी बकर का लफटी है।

आकरस का मुँह खान है। बाधा तो नहीं करता परन्तु आकरस के पीछे कई वर्ष पुनर्वासे अवश्य है। अतः इस गाँव बौद्धों का शास्त्र कर रहा है और पुनीछी के साथ कहता भी है कि छोड़ना, खोदना और फुरेना अक्षय-अक्षय निवास है। खोदना फलने या फुरान से होता है एक से खोदना या खोदना नहीं होता।

संस्कृत भाषा के कृषि शब्द की ही के जीवित। कृषि का अर्थ होता है "विलेखन" "हप्" बाध फुरेने के अर्थ में ही आती है। वया पाणिनि व्याकरण और वया शाकटावत-व्याकरण सर्वत्र "कृप्" बाध का अर्थ "विलेखन" ही किया गया है।

अहिंसा यह है कि जमीन को खोदना "खोडीकम्पे" के अन्तर्गत नहीं है। "खोडीकम्पे" का संस्कृत रूप स्पष्ट कर्म होता है और पूर्वोक्त प्रकार से यह स्पष्ट है कि जमीन में एक बकासा न तो खोद करता है और न खोदना ही क्योंकि जमीन खोदते समय न तो बकासा किया जाता है और न गहरे ही गिरे जाते हैं।

सही अर्थ



वास्तव में स्पष्टकर्म तब होता है जब शुरुआत खोदकर उसमें बाध भरकर एवं बाध बनाकर बनाया जाता है। गहराई में बाध खोदने का नाम बहुत गुरुतम गुण से बनाया जा रहा है। हथौटों और पाबलों में विद्यमान बाध परन्तु बाधों तक सीधे या बलसे है। अस्तु इनसे कर कर के बाध भर भी जाती है और ऊपर से बाध बना भी

जाती है। जब वारूद में आग भड़कती है व चट्टानें टूट-टूटकर उछलती हैं तो दूर-दूर तक के प्रदेश में रहने वाले जानवर और इन्सान के भी कभी-कभी प्राण ले बैठती हैं। कितने ही निर्दोष प्राणियों के प्राण-पखेरू उड़ जाते हैं और कितने ही बुरी तरह घायल हो जाते हैं।

ऐसे स्फोटों से पचेन्द्रिय जीवों की हिंसा का भी कुछ ठिकाना नहीं रहता। कभी-कभी जोरदार घडाके से पहाड़ भी खिसक जाते हैं, और न जाने कितने मनुष्य दबकर मर जाते हैं, जिनका फिर कोई पता ही नहीं चलता। ऐसा स्फोटकर्म महारभ है, महा-हिंसा है।

ऐसे कामों में पचेन्द्रिय की, और पचेन्द्रियों में भी मनुष्यों की हत्या का सम्बन्ध है। इसी कारण भगवान् महावीर ने स्फोटकर्म को महान् हिंसा में गिना। श्रावक तो कदम-कदम पर करुणा और दया की भावना को लेकर चलता है, अतः उसे यह स्फोटकर्म शोभा नहीं देता। भगवान् महावीर का यही दृष्टिकोण था। परन्तु दुर्भाग्य से आज उसका यथार्थ अर्थ भुला दिया गया है। इसके बदले इधर-उधर की कुछ निरर्थक बातें लेकर चल पड़े हैं। जन-हित के लिए कु-आ खुदवाना भी महारभ माना जाता है और यदि कोई लोकोपकारी काम किया जाता है तो उसे भी महारभ बताया जाता है। इसका तो यह अर्थ हुआ कि यदि कोई जैन राजा हो जाय, तो वह जनता के हित का कोई काम नहीं कर सकता, क्योंकि महारभ हो जायेगा। और जनता के सम्बन्ध में यदि कोई कुछ भी विचार न करे तो वह एक प्रकार से निर्जीव मांस का पिण्ड ही माना जायेगा। मनुष्य खुद तो दुनिया भर का भोग-विलास करता रहे, किन्तु जनता के हित के लिए कोई भी सत्कर्म न करें, किमाश्चर्यमतः परम् ?

एक कसाई और एक कृपक जब यह सुनता है कि कसाईखाना चलाना भी महारभ है और कृपि भी महारभ है, तो कसाई को अपनी आजीविका त्याग देने की प्रेरणा नहीं मिल सकती। वह किस प्रकार

कुनक की मोटि में अपने बापकी पाकर बुनने कपड़ा का मनुष्य करेवा और लम्बोव जानेवा ? यदि पद्म-नय की त्याग देने का विचार उसके दिमाग में बैठ बी रहा होवा उस भी बहु न त्यागेवा । कुतरी और कुनक सब बहु जानेवा कि कुतरी जातीयिका बी कुतरी की जातीयिका के समान है, और सब उसे इस बात पर विश्वास बी हो जानेवा तब कीन कह सकता है कि कुतरी जैसे नाम-साम्य सबे को त्यागकर बहु कुतरीसाबे की जातीयिका को न अपना के ?

सद्दा या कुवि



एक गृहस्थ खेती में मिलने जावे । मीन पूजा—कहिने क्या बात है ? कतने कहा—बापकी हवा से बने बागवत में हूँ । महापुत्र में पहले बहुत बुझी वा । खेती का काम करता वा वो महाहिता का काम होता वा । सब बनीन लेनकर खेती का काम करता हूँ । सब कोई लवङ्ग-दंठा नहीं है । तबाने किछ पाप-कर्म का सबन वा कि खेती जैसे महापुत्र के कार में पंथा वा । सब पूर्व-पुन्य का करन हुआ बी कतने कुरकारण पिता है । सब सद्दे का सम्मान विष्णुव मातुल-विर्षोव-संवा है । न कोई हिता है न कोई बाप ।”

वो महीन बाव गद्दी गृहस्थ एक दिन रोता हुआ-वा जैसे पाठ बाया । पूजा—क्या हाज है ? कतने कहा—महापुत्र भर गया । मिट्टी काव का न रहा । खेती पू भी संवा बीझ ।

हिने कहा “मरे, पुम्हाण तो पूर्व-पुन्य का सबन हुआ वा और विर्षोव काम की बुझावत हुई बी । न कोई हिता और न कोई बाप । फिर बर्बाद जैसे हो गये ?

हां तो बी सकल बुद्धिकीन सकल को निक बाठा हूँ, सबके महा-हिता को बर्बादवा बिजली है । बहु न करो बहु न करो सब लपट

उसे मर्यादित चालू जीवन से उखाड़कर दूसरे सट्टे आदि के कुपय पर लगा दिया जाता है। फिर वह न तो इधर का रहता है, और न उधर का। वह बाह्य हिंसा के चक्र में उलझा हुआ यह नहीं समझ पाता कि सट्टे आदि के पीछे कितनी अनैतिकता है।

आर्य कर्म और अनार्य कर्म



जीन कर्म कहिना के बारे में बिठनी बहुरई ठक बाता । उठनी बहुरई ठक बहुत कम लोग पढ़े पले ह । जीन कर्म के जीवन के प्रत्येक मल को कहिना भी कठोयी पर परखा है और उठ पर बरग निर्वन की दिका है ।

दुर्भाग से हमारे कुछ लड़कियों ने जीन-कर्म का बाल्यकिक और मौकिक स्वरुप गुना दिका है । उल्ला जीवन के बूझन प्रसों पर कुछ ने तो स्पष्ट हो जा 'गा' ब कहकर एनयाव जीन गुनु की हो पाह पकड़ की है । पर इस तरह बच-बच कर जान करने से कब ठक काम बनेबा ? बहि कोई बूझन विद्यालय जयबा अ बयालय जाहि ओकठा है । तो बह बपने इस कार्य के सम्बन्ध में कुछ स्पष्ट निर्णय तो बाड़ेबा हो नि बह को बर्न कर रखा है, बह बर्न है वा पाव है ? ओकबाक जाया में कहा जा सकठा है नि विद्यालय वा औपचारिक ओकठा-बुझना जम्हा है । पर सोचना तो बह है कि बह केबक ओकबावा में जम्हा है वा बार्थिक दृष्टि के भी जम्हा है ? हमे किटी स्पष्ट निर्णय पर जाया हो रहेबा । केबल ओक बर्न 'पाटु बर्न' वा बूझन बर्न कहन से कब काम नही पक बकेबा ।

जीन जीन बारन करने के भी कब काम नही पक सकठा । क्योंकि लयन प्रगति-पथ पर तीव्र गति से बढकर हो रहा है । जो अन्ति लयन बयबा राष्ट्र जायक बुद्धिजीव के समन की गति देख केबा है और बपने विज्ञान-ज्ञानक कर्तों की लयन के अनुकूल बना केबा है,

समय उसी का समर्थन करता है। कोई कुछ पूछे और उत्तर-दाता मौन हो रहे तो इसका अर्थ यही समझा जायेगा कि कहीं कोई गड़बड़ है, दाल में काला है और आप में कहीं-न-कहीं दुर्बलता है। धर्म और दर्शन का अन्तर्मर्म खुलकर बाहर आना चाहता है। भला, कब तक कोई उसे दवाए-छिपाए रख सकता है ?

संसार का धर्म



इन सब उलझनों के कारण साधुओं के एक वर्गविशेष ने तो स्पष्ट रूप से “ना” कहना शुरू कर दिया है। उसका कथन है—इन सासारिक बातों से हमें क्या प्रयोजन ? हमसे तो आत्मा की ही बात पूछो।

मैं पूछता हूँ, वे केवल आत्मा की ही बात करने वाले व्यक्ति भोजन क्यों करते हैं ? औषधालयों में जा-जाकर दवाइयाँ क्यों खाते हैं ? चलते फिरते क्यों हैं ? ये सब तो आत्मा की बातें नहीं हैं ! केवल आत्मा सम्बन्धी बातें करने वालों को संसार से कोई सम्बन्ध ही नहीं रखना चाहिए। वे शहरों में क्या रहते हैं ? जंगल की हवा क्यों नहीं खाते ?

सच तो यह है कि चाहे कोई साधु हो या गृहस्थ, भूख की पूर्ति तो सभी को करनी पड़ती है। ऐसा कभी नहीं हो सकता कि “करेमि भते” का पाठ बोलते ही, अर्थात् साधु-दीक्षा लेते ही कोई आजीवन अनशन कर दे, देहोत्सर्ग कर दे।

यदि गृहस्थ अपनी उदर-पूर्ति करेगा तो वह उद्योग-धन्धा तो निश्चित ही करेगा। वह या तो खेती-बाड़ी करेगा या कोई और मार्ग पकड़ेगा। भिक्षापात्र लेकर तो वह अपना जीवन-निर्वाह कर नहीं सकता। क्या जैन-धर्म कभी किसी गृहस्थ से यह कहता है कि भीख

मानकर रोटी रोटी खाता बनें हैं और नर्मल-बनर के मुनकर रोटी खाता बचल है ? नहीं जैन बनें ऐसा नहीं कहा । परन्तु हमारे अनेक ब्राह्मणों ने यह समझ लिया है कि बिना मानकर खाया 'बचल' है और नर्मल बनर के बीजन बिनाई करना 'बचल' है । परन्तु जो रोटी ग्राह्य-नीतिपूर्वक गुरुभार्य के और उपासन के आलस की खाती है क्या वह पाप की रोटी है ?

जो लोग ऐसी रोटी को पाप की रोटी समझते हैं उनके सम्मुख मेरी साहस-पूर्वक कहना है कि उन्हें जैन-शास्त्रों का समुदाय पूरा ठक नहीं है । वे बलउपासी और बहुविध विचार-गुंथका के बचलें नहीं हैं । समझा जाता है कि गुरुत्व तो प्रकृति में बना हुआ है, इच्छापूर्वक बचलें बनाई हुई रोटी पाप की रोटी है और यदि वह बिना मानकर खाया जाता है तो प्रायुक्त होने के यह बनें की रोटी है । परन्तु जैन बनें के आचार्यों ने हाथ पर हाथ बरकर लिखित बड़े पत्रों वाले परम्परागामी गुरुओं की शिक्षा के विरुद्ध करने का अधिकार कम और कहा बिना है ? ऐसे सामान्य गुरुओं के विरुद्ध बिना का विचार ही कहा है ? जो हड़ते-बड़ते होकर भी गुरुओं के मन के बहारे मान उठाते हैं और बिना बनर के मुनी बीजन बिनाते हैं, बचलें बिना की हमारे कहा 'बीजनभी' बिना बलउपासी बना है । सामान्य गुरुत्व की सुविध्य मन करने की है । जो यथ नहीं करता उसे जाने का क्या हक है ?

एक प्रकार जीवन तो बाँड़े साधु का ही या गुरुत्व का प्रकृति के बिना ब्रह्म में मन बन की नहीं खाया जाता ।

“न हि कश्चित् कुत्रापि जातु सिध्यत्यर्थादृत् ।

अर्थात् कोई भी व्यक्ति मन बन की कर्म फिरे बिना नहीं रह सकता ।

यदि सारा ससार भिक्षा-पात्र लेकर निकल पड़े तो रोटिया आएंगी भी कहां से ? क्या रोटियां आकाश से वरसने लगेंगी ? कोई देव आकाश से रोटिया नहीं वरसाएगा । उनके लिए तो यथोचित श्रम, प्रवृत्ति और पुरुषार्थ करना ही पड़ेगा । प्रवृत्ति को कोई छोड़ ही नहीं सकता ।

हमारे कुछ साधकों ने भ्रान्त विचार-शृंखलाओं में फसकर और सत्यमां से विचलित होकर जोरों के साथ यह बात फैला दी कि पुत्र-पुत्रियों द्वारा माता-पिता आदि की सेवा करना एकान्त पाप है, यह ससारी काम है । इसमें धर्म का अंश भी नहीं है । इस प्रकार की बातें कह-कहकर उन्होंने गृहस्थ का मन गृहस्थ धर्म की भूमिका से दूर हटा दिया है । फलतः गृहस्थ अपने उत्तरदायित्व से दूर भाग खड़ा होता है ।

आज गृहस्थ-जीवन की पगडेंडियों पर चलने वालों ने अपना मार्ग अत्यन्त सक्तीर्ण बना लिया है । वे समझ बैठे हैं कि जो काम साधु न करे, उसमें पाप के सिवाय और कुछ नहीं है । बहुतेरे लोगों के दिमाग में ऐसी भ्रान्त धारणा बैठ गई है । इसीलिए उनका विश्वास हो गया है कि रोटिया खाई तो जाय, पर उनके लिए कमाई न की जाय, कपड़ा पहना तो जाय, पर बुना न जाय, पति-पत्नी बना तो जाय, परन्तु एक-दूसरे की सेवा न की जाय, माता का पद तो लिया जाय, पर माता का काम न किया जाय, पिता बनने में सौभाग्य समझते हैं, परन्तु पिता के दायित्व से बचना चाहते हैं ।

इन भ्रमपूर्ण धारणाओं ने आज गृहस्थ-जीवन को विकृत बना दिया है । आखिर यह उलटी गाड़ी कब तक चलेगी ? क्या जैन-धर्म ऐसी ही उलटी गाड़ी चलाने का आदेश देता है ? वह यह कहां कहता

है कि जो कुछ तुम बनना चाहते हो उसके वाशिल से बनने की कोशिश करो ।

बीन-बन जीवन की आवश्यक प्रवृत्तियों को बन्द करने के लिए नहीं आया है । यह इस सम्बन्ध में एक सुन्दर लम्बे पैरा है जो सर्वोद्योग अभिनवशील है ।

बेटी-बाड़ी व्यापार-वाणिज्य वाणिज्यिकी की प्रवृत्तियाँ हैं, उन सब को बन्द कर के बसोने से एक दिन की टिक नहीं छोड़ो । यही नहीं बर्कर्मन्स होकर आकड़ियों की पछि में बैठ जाने का मत है ही तुम प्रवृत्तियों से कूटकाट नहीं पा सकते । तुम्हारा मत जो कि प्रवृत्तियों का मूक लोठ है, अपनी कपेड-बुन से विरहण्ड क्या ही रहेगा । उसकी दुकान-बारी कभी बन्द न होयी । कपेडों के बाहर बिठावोने और फिर्त कोने से छिपावोने ? ऐसी स्थिति में बीन बर्न कहता है कि प्रवृत्तियाँ बडे ही हों पर उनमें जो बिच का गुट है, उसे हटा दीजिये । उनके पीछे कुछ स्वार्थ एवं आसक्ति की जो बिवाल बाधनाएँ हैं उन्हें बन्का देकर बाहर बिवाल दीजिये । यदि तुम दुकान पर बैठे हो तो बन्नाय से मत न बढोरी किसी नरीय का बूब मत बूतो कुत्तों का खोपन करने की ही प्रवृत्ति बच रहो । तुम्हारी प्रवृत्ति में ही यदि बनीति और बोन्ना बड़ी का बिच बिचक बाधना हो वह तुम्हारे बीनन की प्रवृत्ति से बाधक नहीं बनेगी अणि बिवाल की नई ब्रेखा ब्रदाय करेगी ।

बेटी-बाड़ी करने वाले को भी बीन-बर्न यही कहता है कि यदि तुम बेटी करत हो तो बसोने बन्नाबुन्नी मत करो । बेटी की प्रवृत्ति में ही ब्रदान और अविदेक का बाहर बिवाल हो । अपने बन्नायन बिने बन्ना को ऊँचे बानी से ब्रेबने के लिए बुचिक बर्न की बन्नी बाधना न करो बसिक कुत्तों के बीनन-बिवाल में सहायक बनने की बरना-

मयी पवित्र भावना रखो। वस, वही खेती आर्य-कर्म कहलाएगी। पवित्र एव करुणामयी भावना के अनुरूप कुछ अश मे पुण्य का उपार्जन भी किया जा सकेगा।

गृहस्थ जिस किसी भी कार्य मे हाथ डाले, यदि उसके पास विवेक का दिव्य-प्रकाश है तो उसके लिए वह आर्य-कर्म होगा। इसके विपरीत यदि असावधानी से, अविवेक से और साथ ही अपवित्र भावना से कोई कार्य किया जायेगा, फिर चाहे वह दुकानदारी हो या घर की सफाई सरने का ही साधारण काम क्यों न हो, तो वह अनाय-कर्म होगा। जैन-धर्म आर्य-कर्म और अनाय-कर्म की एक ही व्याख्या करता है, अर्थात्—विवेकपूर्वक, न्याय-नीतिपूर्वक किया गया कर्म “आर्य-कर्म है, और अन्याय से, अनीति से, छल-कपट से एव दुर्भावना से किया जाने वाला कर्म “अनाय-कर्म” है।

सामान्यतया कहा जा सकता है कि खेती आय-कर्म है, इस विषय मे प्रमाण क्या है? सब से पहले मैं यही कहूंगा कि प्रवृत्तिकार का विवेक ही प्रमाण है, उसके अन्तःकरण की वृत्तियाँ ही प्रमाण हैं। सबसे बड़ा प्रमाण मनुष्य का अपना अनुभव ही है। क्या तीर्थंकर किसी बात के निर्णय के लिए किसी ग्रन्थ, शास्त्र या महापुरुष के किसी वाक्य को खोजते फिरते हैं? नहीं, क्योंकि उनके पास ज्ञान का वह अनुपम संचलाइट है, जिसके समक्ष सभी प्रकाश फीके पड़ जाते हैं। उन्हें किसी भी ग्रन्थ या पोथे को टटोलने की जरूरत ही नहीं होती।

इसी प्रकार जिसके पास विवेक-बुद्धि है, उसे कहीं भी भटकने की आवश्यकता नहीं है। जिसकी दृष्टि सम्यक् है और सत्य के प्रति जिसे सच्ची निष्ठा है, वह किसी चीज के औचित्य का निर्णय स्वयं कर सकता है। जो साधक विवेक का सहारा न लेकर धर्म की ऊँची-ऊँची बातें करता है, वह बिना आत्म-प्रकाश के, अन्धकार मे टकरा कर गिर जाता है। धर्म का रहस्य विवेक के बिना समझ मे नहीं आ सकता। एक भारतीय ऋषि ने कहा है .

“यस्तर्कैर्यानुसन्धते स धर्म बोध मैतर” ।

बर्हिद्—यों तर्क से तत्त्व का अनुसंधान करता है यही धर्म का ज्ञान है हुआ नहीं ।

मन्वर गीतन के मुक्तने पर बर्हिमीर ने भी उत्तराध्यायन शुरू है कहा है :

“यन्मा समित्कप्य धर्म्य तत्त तत्त विधिनिर्णयम् ।”

बर्हिद्—“साधक की सहज बुद्धि ही धर्म-तत्त्व की सच्ची समीक्षा कर सकती है ।

साधार



वस्तुतः जीवन का निराल विचार के साधार पर ही होता है । विचार के बाह ही हम किसी प्रकार का व्यवहार करते हैं और विचार के लिए धर्म प्रथम विवेक की आवश्यकता होती है । यह सही मार्ग क्यों है या असही मार्ग ? इस प्रश्न पर विचार करने के लिए धर्म प्रथम अपने विवेक-बुद्धि अन्तःकरण से ही उत्तर माँगना चाहिए ।

जो किताब विषय पर बोली से ऐसी तक पढ़ीया कहाता है बाल व्यवसाय कर संसार को देता है अपना सारा समय परिचय और जीवन कृषि के पीछे लगा देता है, ऐसे अन्धोत्साहक और अन्धधारा को यदि आप समझ-बुद्धि नहीं करें और सब जगह की साफर ऐश-व्यवसाय के बिना बिना के आपके आप स्वयं मार्ग-बुद्धि होने का दावा करें क्या इस मिथ्याचार बाह को रिती की विवेकबोध का अन्तःकरण कम स्वीकार कर सकता है ? आप बुद्धि का सब साफकर क्या अपने को गलत-हीन कर देंगे कि कृषि क्या असही-मार्ग हो सकती है ?

भगवान् महावीर ने भी कृषि-कर्म करने वाले व्यक्तियों को वैश्य बतलाया है। भगवान् [महावीर के पास आने वाले और व्रत ग्रहण करने वाले जिन प्रमुख श्रावकों का वर्णन उपासकदशाग सूत्र में आता है, उनमें से एक को छोड़कर कोई भी ऐसा नहीं था, जो श्रावक अवस्था में खेती-बाड़ी का धंधा न करता हो। इससे आप स्वयं अनुमान लगा सकते हैं कि हमारी परंपरा हमें खेती के विषय में क्या निर्देश करती है ? वाणिज्य-व्यापार का नम्बर तो तीसरा है, वैश्य का पहला कर्म खेती और दूसरा कर्म पशु-पालन गिनाया गया है।

आर्य और अनार्य कर्मों का विस्तृत विवरण प्रज्ञापना सूत्र में भी आया है। वहाँ आर्य कर्मों के स्वरूप का निर्देशन करते हुए कुछ थोड़े से कर्म गिनाकर अंत में “जे यावन्ने तहप्पगारा” कहकर सारा निचोड़ बतला दिया है। इसका सारांश यही है कि इस प्रकार के और भी कर्म हैं, जो आर्य-कर्म कहलाते हैं।

कुम्भकार के धंधे को भी वहाँ आर्य-कर्म बतलाया गया है। इससे आप फैसला कर सकते हैं कि कृषि-कर्म को अनार्य-कर्म कहने का कोई कारण नहीं था। पर इस गए-गुजरे जमाने में नए टीकाकार पैदा हुए हैं, जो उन पुराने आचार्यों की मान्यताओं और भगवान् महावीर के समय से ही चली आने वाली पवित्र परंपराओं को तिलाजलि देने की अमर चेष्टा कर रहे हैं। जैन-जगत के युगद्रष्टा एवं क्रांतिकारी आचार्य श्री जवाहरलालजी महाराज को, जिन्होंने प्राचीन परंपरा के आधार पर अपना स्पष्ट चिंतन रखा, ऐसे ही कुछ टीकाकार, उत्सृष्ट-प्ररूपी तक कहने का दुस्साहस करते हैं। खेती आर्य-कर्म नहीं है, इससे बढ़कर सफेद झूठ और क्या हो सकता है ?

शायद विक्रम की दूसरी या तीसरी शताब्दी में आचार्य उमास्वाति हुए हैं, जिन्होंने तत्त्वार्थ सूत्र पर स्वोपज्ञ भाष्य लिखा है। उन्होंने आर्य कर्मों की व्याख्या करते हुए कहा है।

५४मीमी। यजनवाजनाप्यमनाप्यारव
कृषिवाभिरमयीमिषोपनयनः ।

यह निश्चय नहीं हो आया है ? उत्पन्न प्रजापति नृप के आचार
पर ही बड़ा ध्यान दिया गया है ।

सोती आदि कर्मों के आरंभ करने होने के संबंध में इनके अन्तर्गत और
क्या प्रमाण हो सकते हैं ? उत्तर यह है कि आचार की मुद्रिका ही
अन्तर्गत की मुद्रिका है । प्रमाण रहस्य नहीं है कि आचार के विवेक
होता है । वह जो भी जान करेगा उसके विवेक की मुद्रिका
अन्तर्गत रहता है ।

अन्तर्गत की विवेक है । बड़ा विवेक नहीं है, बड़ा सोती की
अन्तर्गत नहीं है । बड़ा एक कि विवेक के अन्तर्गत के अन्तर्गत एक पर
आदि का अन्तर्गत करना भी अन्तर्गत नहीं होता ।

इस तरह हमें जीवन के अनेक प्रमाण पर आरंभ-कर्म और अन्तर्गत
कर्म तथा अन्तर्गत और अन्तर्गत का निर्णय कर देना चाहिए । विवेक
को त्याग कर यदि किसी एक ही पक्ष के सूत्रों को पकड़ कर हम अन्तर्गत
रखें तो हमारी समझ में कुछ भी नहीं आएगा और हमारे जीवन कर्म की
भी धारण की मुद्रिका में एक धारण कर देंगे ।

फोलादी दीवार को लाघ कर, अव्रत के असीम सागर को पार कर के और अपरिमित भोगों की ललप्साओं से ऊँचा उठकर आया है उसने मिथ्यात्व की दुर्भेद्य ग्रन्थियों को तोड़ा है और वह अहिंसा एव सत्य के प्रशस्त मार्ग पर यथाशक्ति प्रगति कर रहा है।

सूत्रकृताग सूत्र में अधर्म और धर्म-जीवन के सम्बन्ध में एक बड़ी ही महत्त्वपूर्ण चर्चा चली है। वहाँ स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि जो मिथ्यात्व और अविरति आदि के प्रगाढ़ अधकार में पड़े हैं, वे आर्य-जीवन वाले नहीं हैं, किन्तु जो अहिंसा और सत्य को हितकारी समझते हैं और हिंसा एव असत्य आदि के बन्धनों को पूरी तरह तोड़ डालने की उच्च भावना रखते हैं और क्रमशः तोड़ते भी जाते हैं, वे गृहस्थ श्रावक भी एकान्त सम्यक् आर्य हैं। उनका कदम ससार के विषय वासना पकित पतन मार्ग की ओर है या मोक्ष के उच्च मार्ग की ओर? सहज विवेक बुद्धि से विचार करनेवाला तो अवश्य ही कहेगा मोक्ष की ओर। ऐसे गृहस्थ के विषय में ही सूत्रकृताग कहता है —

“एस ठाणे आरिए जाव सब्बदुक्खपहीणमगे एगतसम्मं साहू”

जो यह गृहस्थ-धर्म की प्रशंसा में आर्य एव एकान्त सम्यक् आदि की बात कहते हैं, वही सर्व विरति साधु के लिए भी कही गई है।

कदाचित् आप कहेंगे कहा गृहस्थ और कहा साधु? साधु की तरह गृहस्थ एकान्त आर्य कैसे हो सकता है? इस प्रश्न के उत्तर में मैं आप से कहता हूँ कि श्रावक का दृष्टिकोण भी मूलतः साधु की भाँति परम सत्य की ओर है, बन्धनों के पाश को तोड़ने की ओर ही है।

बीने करनो से बकता हो पर अनीष्ट मध्य की ओर उठकी बरि निमयित और निरन्तर बकरव है ।

हमे अपनी पुष्टनी बरनरा की ओर भी वृष्टिपाठ कर केना चाहिए । यह क्या कहती है ? यह ऐत नृहस्व की भी अपनी बीस्व मोक्ष के साथ-साथ हुएपों की बीवन-बीना की भी बार करता है कभी भी राशी और विष का दुकना नहीं बतका बकती । कुछ कोनों का ऐसा विचार है कि नृहस्व को अपनी रोटी कमाती बड़ी है । बस्व मुठका परता है समय जान पर अपने बड़ीसी बसाव और राष्ट्र की रक्षा के लिए कठोर कर्तव्य की बसा करना बड़ा है इस लिए यह छो पाप से बुरा हुआ है ।

घाघु और नृहस्व



कुछ कोनों ने एक ममबद्ध विज्ञान्त निकाला है कि घाघु की अवेसा नृहस्व का स्तर बीना है, इसलिये उदक्य सत्कार-बन्धन करना बकती केना-मुपुपा आदि करता बस्व नृहस्व के लिए पाप का बार्न है । यह हिता बहल्य पोटी और दु-बीकता का निमनीय मार्ग है और पठन की पमबंडी है । मेरे विचार से एक हीन विचार के पीछे बहल्य बककर नाह रहा है और विवेक की रोषनी नहीं है । मुपाय और मुपाय की अनेक भयपूर्ण बारभाएँ भी इसी बहल्य के मुपरिभाय है । नृहस्व मुपाय है बके कुछ भी केना बर्न नहीं है । घाघु को केना ही एकबाय बर्न है । इस प्रकार की कलनदाएँ अनुचित विचारों हाथ ही ना गई है ।

तनिक ब्यावक की मुधि का बर भी विचार कीबिने । यह निम्यात्व के प्रमाद ब्यावकार की बेबकर, बमन्धानुर्बन उन पीठ कबाय की

फोलादी दीवार को लाघ कर, अग्रत के असीम मागर को पार कर के ओर अपरिमित भोगों की क्लिप्माओं से ऊँचा उठकर आया है उसने मिथ्यात्व की दुर्भेद्य ग्रन्थियों को तोड़ा है और वह अहिंसा एव सत्य के प्रशस्त मार्ग पर यथाशक्ति प्रगति कर रहा है।

सूत्रकृताग सूत्र में अधर्म और धर्म-जीवन के सम्बन्ध में एक बड़ी ही महत्त्वपूर्ण चर्चा चली है। वहाँ स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि जो मिथ्यात्व और अविरति आदि के प्रगाढ़ अधिकार में पड़े हैं, वे आर्य-जीवन वाले नहीं हैं, किन्तु जो अहिंसा और सत्य को हितकारी समझते हैं और हिंसा एव असत्य आदि के बन्धनों को पूरी तरह तोड़ डालने की उच्च भावना रखते हैं और क्रमशः तोड़ते भी जाते हैं, वे गृहस्थ श्रावक भी एकान्त सम्यक् आर्य हैं। उनका कदम ससार के विषय वासना पक्षित पतन मार्ग की ओर है या मोक्ष के उर्ध्व मार्ग की ओर? सहज विवेक बुद्धि से विचार करनेवाला तो अवश्य ही कहेगा मोक्ष की ओर। ऐसे गृहस्थ के विषय में ही सूत्रकृताग कहता है —

“एस ठाणे आरिए जाव सब्बदुक्खपहीणमग्गे एगतसम्मि साहू”

जो यह गृहस्थ-धर्म की प्रशंसा में आर्य एव एकान्त सम्यक् आदि की बात कही है, वही सर्व विरति साधु के लिए भी कही गई है।

कदाचित् आप कहेंगे कहा गृहस्थ और कहा साधु? साधु की तरह गृहस्थ एकान्त आर्य कैसे हो सकता है? इस प्रश्न के उत्तर में मैं आप से कहता हूँ कि श्रावक का दृष्टिकोण भी मूलतः साधु की भाँति परम सत्य की ओर है, बन्धनों के पाश को तोड़ने की ओर ही है।

यह कि गृहहत्या के किया स्थापक में बहुत क्रियाओं का वर्णन है। गृहस्थ को धर्म की भाँति ही एकान्त मार्ग बताया है, उस ऐसी स्थिति में यदि तात्त्विक योजनादि क्रियाएँ करे तो पाप नहीं और यदि सामक नहीं भिन्नक पूर्वक योजनादि क्रियाएँ करे तो एकान्त पाप ही चित्तवर्त्तमान। यथा विध प्रकाश धारण संभव हो सकता है ? नहीं कर्म करता हुआ धारक पापी और कुपाप कहे हो सता ? इस पर हमें विप्लवपूर्वक विचार करना होगा।

पाप करना एक चीज है और पाप हो जाना दूसरी चीज है। पाप तो धर्म से भी होना संभव है। ये भी कभी किसी प्रवृत्ति में भूक्त कर बैठते हैं। पर वह नहीं कहा जा सकता कि तात्त्विक नाम-भूक्तकर पाप करता है। वास्तव में वह पाप करता नहीं है बल्कि हो जाता है। इसी प्रकार सामक भी कुछ अन्तर्गत वृत्ति केकर रहता है। परिस्थिति-बोध उसे धारण करना भी होता है वरन् वह प्रवृत्ति धर्म से नहीं उदासीन भाव से रहता है। यदि कोई गृहस्थ आत्मिक धर्म में आत्मनिष्ठ पाप कर्म करता है पाप कर्म के लिए उत्साहित होकर रहता रहता है तो वह अन्तर्गत है पर वो गृहस्थ कर्म तो करता है, पर उसमें मिथ्यावृत्ति जैसी आत्मिक नहीं रहता वह उसमें के आत्मिक के विषय को कम करता जाता है तो वह अन्तर्गत नहीं कहा जा सकता। यदि ऐसा न होता तो अपमान उसे एकान्त सम्बन्ध एवं धर्म क्यों नहीं ?

जेतो का मुख्य



एकान्त सत्य के पर अब मुख्य विषय पर आइए और विचार नोचिए। एक और अपमान के धारक के जीवन को एकान्त सम्बन्ध धर्म जीवन कहा है और दूसरी तरह का नहीं धर्म का क्या करने

वाले श्रावक का अनाप मनसते हैं। ये दोनों एक-दूसरे की परस्पर विराधी मानें होने में ल सा सानी हैं ?

श्रावक की भूमिका अल्पारम्भ की है, महारम्भ की नहीं। महारम्भ का मतलब है, गोर शिवा और घोर पाप, जो श्रावक के जीवन में किसी प्रकार भी पड़ित नहीं हो सकता। आपका मालूम होगा, गृहस्थ जीवन में आनन्द ने, जो दिया, वह एक आदर्श की चीज थी। आनन्द जैसा उच्च एवं आदर्श जीवन व्यतीत करनेवाला श्रावक महारम्भ का पाप नहीं कर सकता था। आनन्द, श्रावक अवस्था में भी खेती करता था, इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। आनन्द श्रावक था, अतएव अल्पारम्भ भी था। फिर भी वह खेती करता था, इसका फलितार्थ यही है कि खेती श्रावक के लिए वर्जनीय नहीं है, वह अल्पारम्भ में ही है।

कृषि के सम्बन्ध में विचार करते समय हमें भगवान् आदिनाथ को स्मरण रखना चाहिए। मानव सभ्यता के आदिकाल में पहले कल्प-वृक्षों से युगलियों का निर्वाह हो जाता था। उस समय उनके सामने भ्रष्ट का कोई संकट नहीं था। खाद्य सामग्री प्रचुर मात्रा में उपलब्ध थी। जब कि जन संख्या बहुत सीमित थी। पहला जोड़ा जब विदा होने लगता, उधर दूसरा जोड़ा उत्पन्न होता था। इसलिए उनकी संख्या में कोई विशेष अन्तर नहीं होता था। परन्तु भगवान् ऋषभदेव के समय में कल्प-वृक्ष, जो उत्पादन के एकमात्र साधन थे, घटने लगे और जन संख्या बढ़ने लगी। अतएव कल्प-वृक्षों से उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति में बाधा उपस्थित हो गई। जहाँ उत्पादन कम है और खानेवाले अधिक हो जाते हैं, वहाँ संघर्ष अनिवार्य है।

बुद्धों मरते और सकल वे पड़े हुए बुद्धियों को मनमाना आधिपत्य ने जो खेती करना और दूसरे बने करना सिखाया वह क्या था ? हरपावन की कक्षा दिखाकर उन्होंने हिंसा को बढ़ाया था अहिंसा की राह बतलाई ? उन्होंने ऐसा कर के जीवन-साध दिया था पाप-कर्म किया ?

यदि एकचरित्रक मनोवृत्तिवाला व्यक्ति समाज के कल्याण तथा राष्ट्र की वृद्धि के लिए उत्साहन में वृद्धि करता है, स्वभाव और राष्ट्र की आधुनिक आवश्यकताओं की पूर्ति में सक्रिय सहयोग देता है, बुद्ध के उद्देश्ये प्राप्त व्यक्तियों के बुद्ध-दर्श को दिखाने के लिए उत्साहन की कक्षा बताता है, तो वह भी एक प्रकार का अहिंसा का ही एक सुनिश्चित मार्ग है।

आपके घर कोई स्वधर्मों आई जाया है। वह कुछ समय बड़े संकट में है। क्यों कि उस के घर के बाल के लोके पड़ रहे हैं और वह परीबी के पस्त है। उक्त अवसर पर आपने उसे तात्कालिक सहायता की अर्वात्-बी-एक बार जोखन करा दिया। घर क्या हुआ करने मात्र से उसके जीवन-निर्वाह की समस्या हल हो गई ? आपके सामने हुल्ले ही बिल फिर वही बुद्ध की सकम्पपूर्ण समस्या खड़ी होती। हमने विपरीत किन्ती आई मे अने बुद्धी देव घर और दवा के डेरिया होकर किन्ती काम पर लगा दिया कोई व्यवसाय सिखा दिया और अपने बीटी घर लाना घर दिया तो बहूके की लयेला दूसरा व्यक्ति स्वयं ही अधिक उपकारी पिला पायेगा।

हमी किछ देव के नतामन मात्र अपने भावनों में सबबुद्धों को अपने देव के लक्षणपूर्ण उद्योग दिखाने की प्रेरणा देते हैं। उद्योगों का निराप करती हैं और देव की आर्थिक तथा साह्य समस्या को हल करते हैं।

जीने की कला



वस्तुतः भगवान् ऋषभदेव ने भी युगलियों को जीने की ही कला सिखाई थी। उनके समय में मनुष्यों की संख्या बढ़ रही थी। इधर मां-बाप भी जीवित रहते थे और उधर सन्तान की संख्या में भी निरन्तर वृद्धि हो रही थी। केवल एक जोड़ा सन्तान उत्पन्न होने का प्राकृतिक नियम टूट गया था, फलतः सन्तानें बढ़ चली थीं। स्वयं ऋषभदेव भगवान् के भी पुत्र और बहुत सी पुत्रियां थीं। परन्तु दूसरी ओर कल्यवृक्षों में, अर्थात् उत्पादन के साधन में कमी होती जा रही थी। यदि उस समय का इतिहास पढ़ेंगे, तो आप को मालूम होगा कि जिन युगलियों को पहले वैर-विरोध ने कभी छुआ तक न था, वे भी स्त्रियों के लिए आपस में गाली-गलौज करने लगे, जिससे परस्पर द्वन्द्व होने लगे थे। लाखों वर्षों तक कल्प-वृक्षों का बटवारा नहीं हुआ था, किन्तु अब वह भी होने लगा और वृक्षों पर अपना-अपना पहरा बिछाया जाने लगा। एक जट्या दूसरे जट्ये के कल्प-वृक्ष से फल लेने आता तो सघर्ष हो जाता। एक वर्ग कहता-यह कल्प वृक्ष मेरा है मेरे सिवा इसे दूसरा कौन छू सकता है? दूसरा वर्ग कहता, यह मेरा है, अन्य कोई इसके फल नहीं ले सकता। उस समय सब के मुख पर यही स्वर गूँज रहा था कि मैं पहले खाऊंगा। यदि तू इसे ले लेगा, तो मैं क्या खाऊंगा?

इस प्रकार सग्रह-वृत्ति बढ़ने लगी थी। उस समय यदि भगवान् ऋषभदेव सरीखे मानवता के कुशल कलाकार प्रकट न होते, तो हमारे वे आदि काल के पूर्वज आपस में लड़-झगड़ कर ही समाप्त हो जाते। भगवान् ने उन्हें मानव-जीवन की सच्ची राह बताई और अपने सनुपदेश से इनके सघर्ष को समाप्त करने का सफल प्रयत्न किया।

बूझो मछो जीर घुसक में पड़े हुए बुचकियों को प्रवधान बाधितान ने जो बेटी करना जीर बुझरे बने करना सिखाया वह क्या था ? उत्पादन की कला सिखाकर उन्होंने हिंसा को बढ़ावा या बहिष्कार की यह बतकाई ? उन्होंने ऐसा कर के जीवन-रत्न दिया या पाप-कर्म दिया ?

परि रचनात्मक मनोवृत्तिवाला व्यक्ति समाज के सम्मान तथा राष्ट्र की समृद्धि के लिए उत्पादन से वृद्धि करता है, समाज और राष्ट्र की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये बहुपक्ष रीति है, मूल से उत्पन्न वस्तु व्यक्तियों के बुद्ध-बर्ष को मिटाने के लिए उत्पादन की कला बताता है, जो वही ही एक प्रकार का बहिष्कार का ही एक सुनिश्चित मार्ग है।

आपके घर कोई स्वामी नहीं आया है। वह सब ठगने बड़े संकट में है। क्यों कि उस के घर में बल के बाजे पड़ रहे हैं और वह बरीबी से घल्ट है। यह अवसर पर आपने उसे व्यावहारिक बहाकवा की अर्थात्-बो-एक बार जोखन करा दिया। घर क्या हुआ करने बाध है इसके जीवन-निर्वाह की समस्या हल हो गई ? इसके सामने बुझरे ही दिन फिर वही बुझ की सम्पूर्ण समस्या बनी होगी। इसके विपरीत किसी आई ने बने बुझी रीति कर जीर बना से प्रेरित होकर किसी काम घर क्या दिया कोई व्यवहार सिखा दिया और अपने पीछे घर कला कर दिया तो पहले की अपेक्षा बुझरा व्यक्ति स्पष्ट ही अधिक उपकारी दिया जायेगा।

इसी लिए देश के नेताओं द्वारा अपने भावनों व मनबुझों की अपने देश के महत्त्वपूर्ण उद्योग विद्यालय की प्रेरणा देते हैं। उन्होंने का विचार करते हैं और देश की आर्थिक तथा सामाजिक समस्या को हल करते हैं।

सही दिशा

पर हमारा दिल इसे स्वीकार करने को तैयार नहीं है। गृहस्थाश्रम में होने के कारण यदि उन्होंने महारभ रूप खेती सिखाई तो वे पशुओं को मार कर खाने की शिक्षा भी दे सकते थे। फिर उन्होंने क्यों नहीं कह दिया कि ये लाखों-करोड़ों पशु-पक्षी मौजूद हैं। इन्हें मारो और खा जाओ। उन्होंने शिकार कर के जीवा-निर्वाह कर लेने की शिक्षा क्यों नहीं दी? पशु पक्षियों को मारने और शिकार खेलने की तरह खेती को भी महारभ माननेवाले इस प्रश्न का क्या उत्तर देते हैं?

पशुओं को मार कर खाना महारभ होने से नरक का कारण है और यदि खेती भी महारभ होने के साथ-साथ नरक-गति का कारण है तो भगवान् पशु पक्षियों को मार कर खाने की, अथवा दोनों उपायों को यथा आवश्यकता प्रयोग में लाने की शिक्षा दे सकते थे। परन्तु भगवान् ने ऐसा नहीं किया। इसके पीछे कोई रहस्य होना चाहिए। वह यही है कि अहिंसा की दृष्टि से वास्तव में खेती महारभ नहीं है, अल्पारभ है। भगवान् ने अल्पारभ के द्वारा जनता को जटिल समस्या हल की। उन्होंने सूक्ष्म दृष्टि से देखा, यदि ऐसा प्रयोग न किया गया, जनता को अल्पारभ का पेशा न सिखाया गया तो वह महारभ की ओर अग्रसर होती जायेगी। लोग आपस में लड़-झगड़ कर मर मिटेंगे, एक दूसरे को मार कर खाने लगेंगे। इस प्रकार भगवान् ने महारभ की अनिवार्य एवं व्यापक सम्भावना को खेती वादी सिखा कर समाप्त कर दिया और जनता को आर्य कर्म की मही दिशा दिखाई। मास खाना, शिकार खेलना आदि अनार्य कर्म भगवान् ने नहीं सिखाए, क्योंकि वे हिंसारूप महारभ के प्रतीक थे, जब कि कृषि उद्योग अहिंसा रूप अल्पारभ का प्रतीक है।

अनुचित बुद्धिजीवी के कारण वह बाधका की या बनती है कि क्या व्यवस्था व्यवस्था उन्हें जीवन नहीं दे सकती है ? जब कि ऐसी और व्यवस्था व्यवस्था स्वयं इस व्यवस्था में था । वे बाधा देते तो उन्हें जीवन बिकाने में क्या और कम सकती थी ? परन्तु ऐसा करने के लुब्धों की आवश्यकताएँ एक एक पूरी होती जातीं जब तक व्यवस्था रहते । इसलिए व्यवस्था ने सोचा मेरे जाने के बाद नहीं हम्बें सर्व्व कदाई व्यवस्था और बार-बार कहेगी । फिर नहीं समस्या बड़ी होगी । व्यवस्था व्यवस्था ने उन्हें हाथों से परिचय करना सिखाया । उन्होंने कहा तुम्हारे हाथ स्वयं तुम्हारी बुद्धि का पुनर्निर्माण कर सकते हैं और वह निर्माण तुम्हारे मुक्त जीवन का आधार होगा ।

इस अवस्था पर मुझे अत्यन्त बेह-व्यक्ति एक वैदिक ऋषि की वस्तु याद आ रही है जिसने कहा था समय में हस्तों अममान समय में भाग्यशाली ।

अर्थात् वह नेत्र हाथ ही व्यवस्था है बल्कि नेत्र हाथ व्यवस्था से भी बह कर है । वास्तव में हाथ ही व्यवस्था ऐश्वर्य का संचार है । यदि उसकी उपयोगिता को नहीं जाति व्यवस्था किया जाने ।

इस प्रकार व्यवस्था ने बुद्धिजीवी के हाथों से ही उसकी अपनी समस्या मुक्तकई । मैं तो बड़ा एक बहुत हूँ व्यवस्था ने केवल एक बुद्धिजीवी की समस्या को ही नहीं मुक्तकई बल्कि आज के मानव-जीवन की वैदिक समस्या को भी हल किया है ।

यह हमारे कई ज्ञानी कहते हैं की सही तो यहारण है । क्यों कि व्यवस्था स्वयं व्यवस्थागत है वे इस लिए ऊर्ध्व वे-व्यवस्था को महारण की बिछा दी ।

सही दिशा



पर हमारा दिल इसें स्वीकार करने को तैयार नहीं है। गृहस्थाश्रम में होने के कारण यदि उन्होंने महारभ रूप खेती सिखाई तो वे पशुओं को मार कर खाने की शिक्षा भी दे सकने थे। फिर उन्होंने क्यों नहीं कह दिया कि ये लाखों-करोड़ों पशु-पक्षी मौजूद हैं। इन्हें मारो और खा जाओ। उन्होंने शिकार कर के जीवा-निर्वाह कर लेने की शिक्षा क्यों नहीं दी? पशु पक्षियों को मारने और शिकार खेलने की तरह खेती को भी महारभ माननेवाले इस प्रश्न का क्या उत्तर देते हैं?

पशुओं को मार कर खाना महारभ होने से नरक का कारण है और यदि खेती भी महारभ होने के साथ-साथ नरक-गति का कारण है तो भगवान् पशु पक्षियों को मार कर खाने की, अथवा दोनों उपायों को यथा आवश्यकता प्रयोग में लाने की शिक्षा दे सकते थे। परन्तु भगवान् ने ऐसा नहीं किया। इसके पीछे कोई रहस्य होना चाहिए। वह यही है कि अहिंसा की दृष्टि से वास्तव में खेती महारभ नहीं है, अल्पारभ है। भगवान् ने अल्पारभ के द्वारा जनता की जटिल समस्या हल की। उन्होंने सूक्ष्म दृष्टि से देखा, यदि ऐसा प्रयोग न किया गया, जनता को अल्पारभ का पेशा न सिखाया गया तो वह महारभ की ओर अग्रसर होती जायेगी। लोग आपस में लड़-झगड़ कर मर मिटेंगे, एक दूसरे को मार कर खाने लगेंगे। इस प्रकार भगवान् ने महारभ की अनिवार्य एवं व्यापक समावना को खेती वाड़ी सिखा कर समाप्त कर दिया और जनता को आर्य कर्म की मही दिशा दिखाई। मांस खाना, शिकार खेलना आदि अनायें कर्म भगवान् न नहीं सिखाए, क्योंकि वे हिंसारूप महारभ के प्रतीक थे, जब कि कृषि-उद्योग अहिंसा रूप अल्पारभ का प्रतीक है।

इसने विस्तृत विवेचन में स्पष्ट हो जाया है कि जबवाल् चरमरेखे के बली-बाही बाहि के जो भी उपयोग करने सिद्धबाए, वे सभी कार्य करने के अनार्य-कर्य नहीं । उन्होंने बिनाह प्रयासों के बाई नर ऐसा प्रति नहीं । बेसी सिद्धाई नर सिद्धार नहीं । इसके अतिरिक्त उन्होंने जो कुछ भी सिद्धाया वह सब प्रयास के हित में किए हो बा ।

कारण में बही करने पर्याप्त करकता है कि कोई भी सर्वोच्चतमो बहुमुख्य किसी भी परिस्थिति में बहुमुख्य के कार्य को सिद्ध नहीं है । कार्य । एक बहुमुख्य बहुमुख्य बाबा व्यक्ति यदि ऐसे कार्य को सिद्धा ऐसा है जो अपने बहुमुख्यों के बाब वह भी नरक का एही करनेवा को कि दूसरों-बाबाओं व्यक्ति उनके बहुमुख्य में बहुमुख्य बाब करते रहे है ।



अहिंसा और कृषि

भगवान् ऋषभदेव ने मानव समाज को घरती पर सर्वं प्रथम जीने की कला सिखाई, फलस्वरूप उसे कृषि-उद्योग आदि के द्वारा अहिंसक जीवन जीने का मार्ग बताया। कुछ अज्ञानी इस भ्रम में हैं कि ऋषभदेव भगवान् ने कृषि का जो मार्ग बताया, वह महारभ और घोर पाप है। पर वे ऐसा कहकर बहुत मूल करते हैं। विवेक समय और अनासक्तिपूर्वक सेवा-भाव से की गयी कृषि कभी भी महारभ नहीं हो सकती, यह हमने पिछले अध्यायो में अच्छी तरह से स्पष्ट कर दिया है और यह भी स्पष्ट कर दिया है कि यदि कृषि महारभ का काम होता तो ऋषभदेव कभी भी उसके लिए उपदेश नहीं करते। दुर्भाग्य से आज ऐसे लोग हैं जो यह कहने को उतावले हैं कि भगवान् ऋषभदेव ने गृहस्थ-दशा में जो कुछ भी काम किया, वह सब ससार का काम था। उन कामों का घम से या आध्यात्मिक जीवन से कोई संबंध नहीं। यह कहना सचमुच में बड़ा अमद्भ है कि ऋषभदेव द्वारा किये गये वे सभी काम जो गृहस्थवास के समय हुए, पापमय थे। तत्त्व चिंतकों और जैन शास्त्रों के विशेषज्ञों का यह मत है कि उन्होंने ऐसा कोई भी काम अपने जीवन में नहीं किया, जिससे घम मार्ग को कोई ठेस पहुंचती या आध्यात्मिकता में कमी आती। यह पापाचारका कथन केवल उन्हीं लोगों का है, जो जैन शास्त्रों की गहराई में न जाकर ऊपर-ऊपर से विषय का विश्लेषण करते हैं। वे अल्पज्ञ ही ऐसा कहते हैं कि यह तो भगवान् का जीतकल्प था। उन्हें करना ही पड़ता।

में पूछता है कि जिस तरह कृषि का उपदेश देना पड़ा उसी तरह यथोपाय भी क्या बकाश देना पड़ा ? ऐसा कहना सर्वथा बहाना ना हो परिचायक है । हमारा यह स्पष्ट अभिप्राय है कि तीर्थंकर कदाहार वर्ष भर दान देते हैं और इस कम से वे जनता की बड़ी सेवा करते हैं । इस दान से उन्हें महान् धर्म और साम्प्रदायिक जीवन की प्राप्ति होती है । किन्तु कुछ लोग यह कहने का साहस करते हैं कि जनमान का दान देना कृषि का उपदेश देना राजा बनकर प्रजा का शासन करना इत्यादि समस्त कार्य साम्प्रदायिक है, कदा बकाशिक है । }

प्रगति का साधन



इस प्रकार तीर्थंकरों के सर्वोच्च की दान की माता-पिता की सेवा को बीच रखा की, कृषि कसौट्य बारि की व्यवस्था को वे दान मानते हैं और ऐसा कहते हैं कि कसौट्य के सर्वथा बकाशवादी नान्दी नियुक्त होकर बीना ही केवल धर्म है । परन्तु इस विषय पर बकीर्या के बीचने की आवश्यकता है । महिषा जीवन की प्रगति का साधन है । और यह प्रगति विरहण सम्पूर्ण की और बढ़ती रहती है । यदि हम परम कर्म की प्राप्ति कर देंगे तो हमें महिषा के मार्ग की बकाश ही नहीं रहेगी । तब ही सिद्धि मिल चुकी रहेगी । परन्तु महिषा मार्ग की प्राप्ति करने का साधन है । जीवन को जीने का साधन है । इसविषय महिषा की व्यवस्थाएँ साक्षात्सम्भव होती हैं । जीवन और पशुओं की हिंसा एक ओर हो तथा दूसरी ओर कदाहार ना कृषि का कर्म ही तो इन दोनों में कौनसा काम महिषा के अधिक विषय है वह निर्णय करना होता और कभी निर्णय के साधारण पर हम यह सोच सकते हैं कि महिषा का काम जीवन और हिंसा का कर्म कीमता है ।

इस सदमं मे हम यह भी नहीं मान सकते कि तीर्थंकर राजा बनते हैं तो उसमे भी उन्हें पाप होता है। हमें सोचना पड़ेगा कि वे राजा क्यों बनते हैं। क्या वे दुनिया का आनन्द लूटने के लिए, भोग-वासना में लिप्त होने के लिए और राजसी सुखों का आस्वादन करने के लिए राजा बनते हैं? प्रजा में फैली हुई घोर अव्यवस्था को दूर करने के लिए, नीति मर्यादा कायम करने के लिए और समाज में व्याप्त कुरीतियों का उन्मूलन करने के लिए यदि वे राजा बनते हैं, तो पाप नहीं माना जा सकता। वे प्रजा के शोषक नहीं, पोषक ये, शासक नहीं, सेवक ये। उन्होंने सिंहासन को स्वीकार कर के प्रजा में होनेवाले अत्याचार, अन्याय और शोषण का प्रतिकार किया। इस महान् उपकारमय काम की ओर हम दृष्टि ही न डालें और आख मूढ़कर केवल इतना भर कह दें कि राजा बनना पाप है, इसलिए उन्होंने राजा बनकर अधर्म ही किया तो यह उचित नहीं होगा। यही तो दान, दया और कृपि के लिए भी लागू होता है। जब दान, दया और कृपि का काम ऋषभदेव, महावीर अथवा अन्य तीर्थंकरों ने किया उस वक्त वे अज्ञानी नहीं थे, साधारण मानव भी नहीं थे। उनके पास अद्भुत ज्ञान था और वे भावी तीर्थंकर हैं, यह भी सर्व-विदित था। तब भला वे ज्ञानी और भावी तीर्थंकर एकान्त पाप-कार्य में कैसे प्रवृत्त होंगे, यह सोचना चाहिए।

उपदेशक



अगर दान करना या कृपि करना पाप है, तो उसका उपदेश देनेवाला भी अवश्य ही पापी होगा। अगर कृपि महारम है, तो भगवान् ऋषभदेव भी कृपि का उपदेश देनेवाले होने के कारण महारमी थे और शास्त्र का कथन है कि महारमी की गति नारकीय होती है। हमें मानना चाहिए कि कृपि महारम नहीं है।

साधु का कृतव्य



कुछ लोगों का ऐसा कहना है कि इन सांसारिक कार्यों की ओर हमारी साधुता को ध्यान नहीं देना चाहिए और मीन रहना चाहिए । परन्तु इसका यह कथन ठीक नहीं । साधु समाज का मार्ग दर्शक है तथा समाज को बताता है कि उसे किस रास्ते पर जाना चाहिए । अगर साधु ही मीन बान बनकर बैठ जायेंगे और समाज का अधिक नम्रदर्शन नहीं करेंगे तो वे अपने कर्तव्य के अनुष्ठ ही होने । उन्हें मीन करने की जरूरत नहीं है । वे साफ-साफ बतायें कि समाज में किस प्रकार अनुष्ठ जीने ? किस प्रकार वह हिंसा के पीरे पीरे बहिष्ता की ओर बढ़े ? किस प्रकार वह रोजगारी के व्यवहार में बहिष्ता का व्यवहार करे ? और किस प्रकार सामाजिक ऐश्वर्य का निर्माण हो ? अगर साधु के सामने इसका जवाब है कि एक निष्कामाधिक हवाये बजहुरों का बोध कर के करोड़ों पत्तों का बंध करवा है या एक कलाई हवायी बकरे काटकर बन इच्छा करवा है, उनसे और दिन भर कही मेहनत कर के बस पैसा करनेवाले किसान में कौन व्यक्ति बहिष्ता के अधिक निष्ठ है ? तो साधु की यहाँ मीन रहने की जरूरत नहीं है । बलिक इसे बड़ा साफ-साफ बताया चाहिए कि बोध करना बजहुरों के हक को जीवना विरोध पक्षों के शत्रु का व्यवहार करना अनिष्टकारक है और गलत है तथा निरर्थक है और किसान का काम बहिष्ता के निष्ठ है । गांधी में विद्युती-विद्युती कभी आयेगी कलना-अलना ही नई का बंध बद्धता मानेगा । कल्पना कीजिये किसी आधमी की १ ४ किसी नगर बड़ा हुआ था । बोधवि है या स्वभाव-उत्त वह दुधारे दिन १ किसी यह गया । किसी ने कहे कुछ क्या हुआ है ? तब वह कहता है कि बंध जायगा है । कुछ ही वक्त हुआ है कि बंध १ किसी नगर है जो बाराज बंध के

आया ? परन्तु यह नहीं सोचते कि जितनी कमी हुई है उतना तो आराम हुआ है ।

एक गृहस्थ श्रावक के आध्यात्मिक जीवन के साथ कृपि का सामंजस्य हो सकता है कि नहीं, इस प्रश्न का उत्तर हमें देना ही होगा । क्योंकि हमें सामाजिक जीवन की रीढ़, कृपि के बारे में घपला करने का अधिकार नहीं है । कोई-न-कोई एक निर्णय कर के यह बताना ही होगा कि कृपि अनिवार्य हिंसा और अल्पारम्भ है अथवा निश्चय हिंसा और घोर आरम्भ है ।

जीवन में हिंसा तो अनिवार्य है उससे किसी तरह बचा नहीं जा सकता । यदि इस सत्य को कोई अस्वीकार करता है, तो उसका कोई तर्क माना नहीं जा सकता । जीवन सघर्ष में खेती, उद्योग आदि जो व्यापार चल रहे हैं, उनमें हिंसा है । जीवन-व्यवहार हिंसा से सर्वथा शून्य नहीं हो सकता । इसलिए अभी मानव के सामने हिंसा और अहिंसा में से एक माग नहीं चुनना है, बल्कि हिंसा से अहिंसा की ओर बढ़ने का मार्ग चुनना है । जहाँ तक अनिवार्य हिंसा का प्रश्न है, वहाँ तक हमें यह भी स्वीकार करना होगा कि साधु भी पूर्णतः अहिंसा का व्रत नहीं निभा सकता । क्रोध, अहंकार, ईर्ष्या आदि जो आन्तरिक हिंसा रूप दोष हैं, वे जल्दी ही साधु का भी पिण्ड नहीं छोड़ते । इसके अलावा जो मोटी हिंसा गृहस्थ करता है, उसके साथ भी किसी-न-किसी तरह का का लगाव साधु का होना संभव है, जब इस धरती का जीवन इतना हिंसा-संकुल है, तब पूर्ण अहिंसा की बात करना न तो उचित है और न व्यावहारिक है ।

तम्बाकू की खेती



यह प्रश्न उठता है कि तम्बाकू की खेती करना बर्बरता है या बर्हारण है ?

यह प्रश्न साधारण खेती के संबंध में नहीं बल्कि तम्बाकू जैसी कहींकहीं खेती के संबंध में है। तम्बाकू मानव-जीवन के लिए अविनाश्य वस्तु नहीं है। बल्कि यह मानव-स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है और जन्मोत्पत्ति में बाधक है। चायपी कोयलाख मजदूरी खेती की छोड़कर तम्बाकू की खेती करना है और उससे बच-बंजर कर के विद्यमान जीवन जीना चाहता है इसलिए यह किसी भी दृष्टि से उचित नहीं है। जिस चीज के उत्पादन के लिए का स्वास्थ्य बिगड़ता हो और जिस चीज के उत्पादन के लिए मानव के लिए आवश्यक काम के उत्पादन में बाधा पड़ती हो और जिस चीज का उत्पादन मानव की जीववृद्धि को कमजोर करता हो वह काम अनुचित और निरवकाश होता है।

मैंने कुछ ज़रोंहों में देखा है और सुना है कि वहाँ के लोग तम्बाकू-का तम्बाकू खेती कीमें पैसा करते हैं और बच बाहर के ज़रोंहों के मनवाते हैं। यह अनुचित काम बनाने की प्रवृत्ति का प्रतीक है।

मान का वह हिस्सा का संबंध जीवों की विनयों के साथ नहीं बल्कि मानव के साथ है। यहाँ तम्बाकू का प्रश्न आता है, यहाँ पर भी हमें मानव की बात मुख्य रूप से जीवनी चाहिए। तम्बाकू की खेती में मानव की भावना प्रवृत्ति रहती है, स्पष्ट ही अनुचित काम बनाने की प्रवृत्ति रहती है इसलिए वह मानवों का दोष या बाधा है। हम अब या हम बीड़ी जड़वुल हवि को ही बर्हारण बर्हारण कर रहे हैं क्योंकि उनका भावना का निर्भर जीव प्रवृत्ति है। हवि करने नमक विज्ञान की भावनाएं बाहरबकला प्रवृत्ति भी होते हुए भी

वे निर्दयतापूर्ण नहीं होती। जीवन का सहज कर्म और कर्तव्य समझकर ही एक किसान खेती का काम करता है।

इन सब विभिन्न दृष्टियों से सोचने पर हम इसी नतीजे पर पहुँचते हैं कि मानव का जीवन अहिंसा की ओर बढ़े, इसके लिए कृषि पहला चरण है। परन्तु हमें कृषि तक आकर सीमित नहीं हो जाना चाहिए, बल्कि आगे भी इसकी खोज जारी रखनी चाहिए कि क्या कोई ऐसा उपाय भी प्राप्त हो सकता है, जिससे न तो मनुष्य का शोषण करना पड़े, न पशुओं का वध करना पड़े और न अन्य देशों या जातियों पर हावी होना पड़े। साथ ही कृषि से होनेवाली हिंसा से भी बचा जा सके और फिर भी जीवित रहा जा सके। इस दिशा में जब वैज्ञानिक पद्धति में खोज होगी, तभी सम्भवतः कोई उचित उपाय निकल सकेगा।

माताहार का अर्थ कई कारणों के साथ-साथ एक मुख्य प्रयोजन यह भी है कि ठंडे मुत्तों में बहायी मुत्तों के और अंदरी प्रेरणों में बहुसंख्यक मानव समाज रहता है। उन्हे अन्न उपलब्ध नहीं हो सकता बहा लेनी भी संभव नहीं कभी भी और वहाँ के वातावरण में अन्न अंदरी नहीं देने वाली वस्तु के बिना काम नहीं कर सकता। इस समस्या का हल माताहार के हाथ कहे हो सकता है। इसके अनुसंधान का अभाव नहीं हुआ। यह कभी हमें हवायी ही कभी बावनी होती। क्योंकि यह वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा सिद्ध हो चुका है कि स्वास्थ के लिए मानव के अधिक माताहार ही उपयोगी है, और विरोध है। विन पशुओं का बांध खाना खाता है वे पशु भी अन्नजन माताहारी होते हैं। माताहारी पशु का मात्र अन्न अनुप्य के स्वास्थ के लिए अतिशय ही और लाभदायक हो तो माताहारी पशुओं का बांध ही और भी अन्न लाभ होना चाहिए। किन्तु यह माना जाता है कि माताहारी पशुओं का मान अनुप्य के लिए उपयोगी नहीं होता। उन्हे एक अन्न का अन्न बत होता है। फिर यह बात भी ध्यान देने लायक है कि एक अन्न और परकारिया कभी से खराब नहीं होती। अर्थात् बांध दुर्लभ खराब हो जाता है। उन्हे कभी बड़ बांधे हैं और बांधी बांध बरतू देने लभता है। ऐसी हालत में भी माताहार के बजाय माताहार अधिक प्रचलित है तो कबना न्ना कारण है? हमें इन कारणों की खोज करनी चाहिए, विन कारणों से मान माताहार को अन्नय दिया हुआ है।

अभ्यस्त समर्थन



एक अन्तर्ही पात्र अपने के अन्न के लिए बीच अपने की मान की कारण है तो यह केवल बांध के लिए नहीं कारण। उन्हे एक अन्न के उन्हे इन दोनों का समर्थन भी मिलता है। तो माताहारी नहीं है,

शाकाहार का प्रश्न

अहिंसा के विश्लेषण की दिशा में जैन चिंतकों ने जिस सूक्ष्मता का दर्शन किया, सम्भवतः इतिहास में बहुत कम चिंतक ऐसे हुए हैं, जो उस सूक्ष्मता तक पहुँचे हों, परन्तु मध्यमयुग और वर्तमान युग के जैन विद्वान परिस्थिति के प्रवाह में कुछ शिथिल हो गए और उनसे प्रत्यक्ष रूप में अहिंसा की साधना और अहिंसा के प्रयोग का क्षेत्र विकसित नहीं किया जा सका।

यही कारण है कि जैन धर्म के आदि-प्रवर्तक ऋषभदेव ने कृषि के माध्यम से मांसाहार के स्थान पर शाकाहार का जो सिद्धांत प्रस्तुत किया वह सिद्धांत आज विश्वव्यापी नहीं बन सका है। यदि हम लोग अहिंसा के प्रत्यक्ष प्रयोगों में लगे रहते और मांसाहारी मानव समाज को शाकाहारी बनाने में सफल हो सकते तो इस सृष्टि का रूप आज दूसरा ही होता।

मांसाहार करने वालों पर मांसाहार की जितनी जिम्मेदारी है, उससे कहीं अधिक जिम्मेदारी उन लोगों पर है, जो स्वयं शाकाहारी होते हुए भी मांसाहारियों को शाकाहारी होने के लिए प्रभावित नहीं कर सके। शाकाहारी जीवन में श्रद्धा रखने वालों का यह कर्तव्य है कि वे शाकाहार की उपयोगिता पर नई खोज करते तथा उसके अनुसार यह सिद्ध कर देते कि मांसाहार न केवल निरर्थक और अनावश्यक है बल्कि नुकसानदेह भी है और मांसाहार के बिना भी इस संसार की खान-समस्या का हल हो सकता है। इस तरह के क्रियात्मक ढंग से यदि हमने मांसाहार के विरुद्ध वातावरण तैयार किया होता तो निश्चय ही संसार के बहुसंख्यक लोग शाकाहार की वास्तविकता का, तत्त्व समझ लेते।

पर चमड़े का व्यवहार करते हैं। बिगड़ी माथों के चमड़े से बने हुए बूटे, बैग, बट्नी के पट्टे आदि का निर्माण होता है और इन वस्तुओं का प्रयोग बाँझाहारी या बिना माँझाहारी तरीके करते हैं। इस प्रकार बाँझाहारी की प्रथा देने वाले भी उपयोग इस की हत्या के बाँझीदार बन पाते हैं, इसलिये सर्वप्रथम निराश्रित प्रजा की वापस होने की आवश्यकता है।

बाँझाहारी का प्रथम केवल बाँझाहारी के सम्बन्ध नहीं रहता, बल्कि यह जीवज के विकास से भी सम्बन्ध रहता है। यह प्रथम बहुत व्यापक है और इसके माध्यम के मौखिक चरम का सम्बन्ध है। बाँझाहारी की प्रथा बिनाहारी विधा से हो सकती है कि यह अपने बाँझाहारी के माध्यमों से अपना सम्बन्ध उत्तरोत्तर बढ़ता जाय और उसका ज्ञान हासिल करता जाय। यही चरम का सम्बन्ध है, और यही विकास का रास्ता है। बिनाहारी विधा के सम्बन्ध बहुत जाय अनुभव तक ही सीमित न होकर सभी प्रभावों तक बाँझी महानुपमि विकसित होती जाय करना ही मानव का मौखिक चरम ठिठ हो सकता है। चरम का विस्तार कथन के विस्तार से ही संभव है। इसलिये बाँझाहारी का प्रथम बाँझाहारी के बिनाहारी सम्बन्ध रहता है। इसके कहीं बल्कि प्रथम विकास से सम्बन्ध रहता है।

बाँझी के काल और मुक्तकृत होने का मान्यता क्या है, इस प्रथम के उत्तर में बिनाहारी के काल है कि अनुभव की बाँझा में बहुत बृद्धि का उत्तर बिनाहारी बल्कि विकसित होना कथन ही यह मुक्तकृत एवं प्रथम माना जायेगा। बाँझाहारी के प्रभावित चरम भी एकमात्र के बारे में यह प्रभावित है कि एक बार के जीवन न करने के और मन्दिर के बाहर किसी किताब के जीव के न करने के कारण उसे कोड़े के बाण। जब कभी बाँझाहारी मन्दिर के काल बहुत ही यह एकमात्र की पीठ पर के कोड़े के किताब पत्र काय। यह कभी भी महानुपमि

की उत्कृष्टता का एक नमूना है। जब मानव हृदय में महान्भूति का चम्कोत्पन्न होता है तब वह प्राणिमात्र ने किस तरह सम्पन्नित हो जाता है, यह हम उदाहरण से स्पष्ट है।

भारतवर्ष शाकाहार का सबसे बड़ा सन्देश-वाहक रहा है। आज भी शाकाहार के सम्बन्ध में सबसे अधिक सोचने वाले और शाकाहारी जीवन बिताने वाले भारत में सबसे अधिक हैं। यहाँ हजारों वर्षों से जो प्रयोग चल रहा है, वह हम बात का प्रमाण है कि हमने समझ-बूझ पूर्वक इसे स्वीकार किया है और शाकाहार हमारा एक महत्त्व का कदम है। पर इस देश में भी मांसाहार को बढ़ाने की कोशिश जिस देशों के साथ हो रही है, वह आश्चर्य जनक है। मांसाहार के प्रचार के लिए ताकत लगाने की क्या आवश्यकता है, वह तो दुनिया-भर में चल ही रहा है। उसको प्रोत्साहन देने के लिए जगह-जगह नए, वैज्ञानिक ढंग के, कत्ल खाने बनाना या मछली पालन, मुर्गी पालन आदि की तबज्जोह देना, विदेशी सरकारों द्वारा चलाई जाने वाली विकास योजनाओं की भोड़ी नकल मात्र है। भारत ने तो सारे विश्व को शाकाहार का सन्देश दिया, इसलिए उसी सन्देश को फिर से जागृत करने की आवश्यकता है। अगर वैसा करने की शक्ति इस देश में नहीं है तो कम-से कम अपने इतिहास के मुह पर कालिख पोतने का प्रयत्न तो न करें।

आज का प्रगतिशील मानव, जो मानवमात्र की समानता का सिद्धांत मानता है और सामाजिक-न्याय के लिये प्रयत्नशील है, अपने से कमजोर प्राणियों के प्रति इतना क्रूर हो सकता है तो वह कैसा प्रगतिशील है, यह समझ में नहीं आता। कितने मृतक जीवों को भोजन के रूप में काम में लाया जाता है, कितनों को मारकर दवाई और फैशन के सामान के रूप में काम में लाया जाता है, हार्दिक वेदना के साथ हम

यह देख रहे हैं कि लंघार के अधिकांश घर गरीबों के
 स्नान बन गए हैं और अधिकांश पैर फल किन्हे हुए गानधरों के
 फलवाह बन गए हैं। ऐसी स्थिति में 'गुरुदेव कुटुम्बकम्' का गरिब
 निराश स्वयं बन हो जाता है। 'अर्धश्रुतिहिता' गता की हृदये
 बाकी को बिटा दिया गया है और गान धारणीय कारण
 मुनी और अर्थों के विकास के जो जोनों को मांसाहार की ओर के जा
 रही है यह आपिनी महर्षियों की हृदयों तक की दह बाधना पर
 पानी डेर रही है। जिस साधना व मानवीय कल्याण का उत्पन्न महत्त्व
 और जिस साधना के वह बोधना की कि समस्त दृष्टी में एक ही
 उत्पन्न है। महीत है।



अहिंसा—अतीत और वर्तमान



आप इतिहासकारों द्वारा निर्दिष्ट उस आदिम युग की कल्पना कीजिये जिसमें अव-नग्न मानव जंगलों में, पहाड़ों में और गुफाओं में रहता था एवं शिकार के आधार पर अपना निर्वाह करता था। मानव की इस स्थिति के साथ आज के स्पुतनिक-युग के मानव को तुलना करते समय हम देखते हैं कि प्रगति की दिशा सम्पूर्ण विश्व को अहिंसा के मार्ग की ओर बढ़ाए जा रही है।

जब ऋषभदेव ने मनुष्य-जीवन को अधिकाधिक सात्विक बनाने के उपायों की खोज की और मासाहार का पर्याय ढूढ़ने में शक्ति लगाई तो “कृषि” का आविष्कार हुआ। यह आविष्कार निश्चय ही एक चमत्कार था। ठीक वैसा ही चमत्कार, जैसा आज अणु प्रयोग, एवरेस्ट विजय और चन्द्र-यात्रा की मफलताएँ चमत्कार की श्रणी में आ रही हैं। ‘जमीन मानवता का रक्षण एवं पोषण करने में समर्थ है, इसलिए ‘श्रम’ करो।’ यह उद्घोष अहिंसा का महान् सूत्र सावित हुआ। जब “श्रम” अहिंसा का प्रतीक बना, तब भूखो मरते पथ-भ्रष्ट मानव ने तोर-कमान को दूर फेंक दिया और हल एवं हसिया लेकर मैदान में आया। किसी के खून का प्यासा होकर भटकने वाला मानव सन्तोष और क्षान्ति के साथ “श्रम ही पूजा है” का मन्त्र गुन-गुनाने लगा। अहिंसा के इतिहास के सबसे गहरे अन्वेषक और सबसे

भीष-मस्ती पर धवाई हो उठने वाला शत्रु बाल्मीकि विश्व विजय करि बना उस दिन महिषा के बाण पर फिर के धिक्कर बना और तबका बाणमय बाण का बीच मानवीय भेषमा की छप्पी से कुण्ड । उल्लेख धार्मिक प्रेरणा के रघुनाथमय व क्षत्रिजो बुद्धर बना दिया और महिषा की रसवाय से शयनोर कर दिया । उसके बाद धारा इतिहास पक्ष ही जून से किया गया हो और जून युग में बुद्ध, बाद काट बाणमय एवं विन्ध्यमय की कहावित्त पटी हों केविन बाणदूर इन सब हिम पदमाओं के महिषा का पीछा फलदा-दुष्का रहा ।

महिषा बाल्मीकि बाल्मीकि महिषा के इतिहास बन कर आए हो बचवान् रूपमय वस्तुमय एवं विन्ध्यमय महिषा के प्रेरणा के रूप में अवतरित हुए ।

महिषा के प्रतिनिधि



यह मनुष्य और वात प्रका के रूप में बन क्षीय का बीरवीय बन रहा था उस महिषा की बना बैन बना बाण एवं नई बलिदाय होने के लिए महावीर और बुद्ध ने सम्पूर्ण मानव जाति को बना एवं कल्याण का लक्ष्य दिया "सर्व वन बीच रक्षक बन्धुदाय बचवान् मनुष्य वस्तुमय । बचान् बचवान् मानवमय की रक्षा के लिए बना और बचवान् का बचवान्-बचवान् ने किया । वह एक ऐसा युग था जब मानव-क्षीय समाज में बचवान् नहीं माना जाता था । मनुष्य को बचवान्-बचवान् माना था । बाण बचवान् माना था । बुद्धाजी की मानवीय कर्तव्य कथार दिया गया था । बुद्ध और महावीर ने उस युग में अपने अपने रूप के बचवान् नाम दिया और बाण बचवान् में एक बाणमय जाति की बहुर बीन बी । इस तरह की महिषा जाति का मानवीय तारे इतिहास में बचवान् दुर्लभ ही है ।

महावीर बुद्ध-युग और ऋषभदेव-युग के बीच में रामायणकाल एव महाभारत-काल भी अहिंसा की दृष्टि से विशिष्ट महत्त्व रखता है। हालांकि महाभारत के युद्ध ने देश की साहित्यिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक एव कलात्मक उपलब्धियों को बहुत बड़ी चोट पहुँचाई तथा भयानक नर-संहार ने अहिंसा के इतिहास को धूमिल जैसा ही कर दिया, परन्तु इस युद्ध के बाद सारा देश यह समझ गया कि हिंसा और युद्ध कितनी जहरीली चीज है और उसके दुष्परिणाम कितने भयकर होते हैं।

अहिंसा के क्रियात्मक प्रयोग भिन्न-भिन्न रूपों में पिछले दो हजार वर्षों में बराबर होते रहे हैं और महावार एव बुद्ध के अनेक विद्वान् उत्तराधिकारियों ने इन प्रयोगों को विकसित किया है। उनमें सबसे उज्ज्वल नाम चन्द्रगुप्त, अशोक, हर्षवर्धन और कुमारपाल का है। सम्राट् अशोक ने कलिंग युद्ध के बाद युद्ध के जिस भयावह रूप का दर्शन किया उससे उनका हृदय द्रवित हो उठा और परिणामस्वरूप वे अहिंसा की उस ऊँची भूमिका पर पहुँच गये कि अपने राज्य की सारी शक्तियों को उन्होंने बुद्ध के मानवीय संदेशों का प्रचार करने के लिए जुटा दिया। उन्होंने जगह-जगह लोक-सेवा के आश्रम स्थापित किये। यात्रियों के लिए पानी पीने के स्थान बनाये। मृगदावों की स्थापना के रूप में पशु-वध का निषेध किया। सड़कों पर पेड़ लगाये। भूखों के भोजन का प्रवन्ध किया। जेल में बन्द अपराधियों को मुक्त कर के उनके सुधार की योजनाएँ बनाईं। अहिंसा के उत्कर्ष के लिए हर संभव प्रयत्न किया। सम्राट् चन्द्रगुप्त, हर्षवर्धन और कुमारपाल आदि की सेवाएँ भी भारतीय इतिहास के अत्यन्त हृदयग्राही उज्ज्वल पृष्ठ हैं।

मुस्लिम साम्राज्य के काल में भी अकबर एक ऐसा महान् सम्राट् हुआ, जिसने धर्म के भेदों से ऊपर उठकर कुछ ऐसे काम किये और

प्रिंस ओपाटकिन, टाल्स्टाय एव बर्नार्ड शां जैसे चिंतकों ने और वर्ट्ण्ड रसेल जैसे दाशनिकों ने सारे योरोप में जिस तरह से अहिंसा के विभिन्न पहलुओं का उद्घाटन किया और रस्किन ने “आन टू दी लास्ट” में जिस प्रकार सर्वोदय विचार का बीजारोपण किया, उसका अहिंसावादी प्रवृत्तियों के इतिहास में गौरवपूर्ण स्थान है। यूनान, रोम और मिश्र तथा एशिया के दूसरे विभिन्न देशों के अनगिनत विचारकों ने मानवीय चेतना के जागरण का मधुर शख फूका एव मानवीय-शांति का सूत्र दिया।

हिन्दुस्तान में महर्षि दयानन्द ने वेदों का अहिंसात्मक विवेचन कर के सभी पुराण-पथी पंडितों के गुरुडम को हिला दिया और सारे देश में एक तहलका-सा मचा दिया, अपने में इतिहास की यह पहली घटना थी कि किसी चिंतक ने अश्व-मेघ आदि शब्दों का अर्थ अहिंसा परक किया हो। इन यज्ञों का विरोध तो पहले भी हुआ, पर अर्थ-परिवर्तन की यह क्रांति निश्चय ही अभूतपूर्व थी।

गांधी



इस पृष्ठभूमि के प्रकाश में चमकता हुआ सब से नजदीक का जाज्वल्यमान नक्षत्र है—मोहनदास करमचंद गांधी। जिसने अहिंसा के आज तक के विकास को नया मोड़ दिया। हिंसा की जो व्याख्या सीमित कटघरों में बंध गई थी उसे उन्होंने व्यापक-क्षेत्र प्रदान किया। पुराने शास्त्रों, रूढ़ियों तथा परंपराओं में बंधी बंधाई अहिंसा को उन्होंने नये स्वर दिये। विना रक्तपात के आजादी की लड़ाई का अमोघ उपाय बताया। “श्रम” को पुनः प्रतिष्ठित किया। शोषण और छल के विरोध में सार्विक जीवन का मार्ग बताया। असहयोग अथवा सविनय अवज्ञा का एक ऐसा अहिंसक रास्ता खोज निकाला कि गुलामी

प्रिंस ओपाटकिन, टाल्स्टाय एव बर्नार्डि शॉ जैसे चिंतकों ने और वट्रण्ड रसेल जैसे दार्शनिकों ने सारे योरोप में जिस तरह से अहिंसा के विभिन्न पहलुओं का उद्घाटन किया और रस्किन ने “ऑन टू दी लास्ट” में जिस प्रकार सर्वोदय विचार का बीजारोपण किया, उसका अहिंसावादी प्रवृत्तियों के इतिहास में गौरवपूर्ण स्थान है। यूनान, रोम और मिश्र तथा एशिया के दूसरे विभिन्न देशों के अनगिनत विचारकों ने मानवीय चेतना के जागरण का मधुर शख फूका एव मानवीय-शांति का सूत्र दिया।

हिन्दुस्तान में महर्षि दयानन्द ने वेदों का अहिंसात्मक विवेचन कर के सभी पुराण-पथी पंडितों के गुरुदम को हिला दिया और सारे देश में एक तहलका-सा मचा दिया, अपने में इतिहास की यह पहली घटना थी कि किसी चिंतक ने अस्व-मेघ आदि शब्दों का अर्थ अहिंसा परक किया हो। इन यज्ञों का विरोध तो पहले भी हुआ, पर अर्थ-परिवर्तन की यह क्रांति निश्चय ही अभूतपूर्व थी।

गांधी



इस पृष्ठभूमि के प्रकाश में चमकता हुआ सब से नजदीक का जाज्वल्यमान नक्षत्र है—मोहनदास करमचंद गांधी ! जिसने अहिंसा के आज तक के विकास को नया मोड़ दिया। हिंसा की जो व्याख्या सीमित कटघरों में बंध गई थी उसे उन्होंने व्यापक-क्षेत्र प्रदान किया। पुराने शास्त्रों, रूढ़ियों तथा परंपराओं में बंधी बंधाई अहिंसा को उन्होंने नये स्वर दिये। विना रक्तपात के आजादी की लड़ाई का अमोघ उपाय बताया। “श्रम” को पुनः प्रतिष्ठित किया। शोषण और छल के विरोध में सात्विक जीवन का मार्ग बताया। असहयोग अथवा सविनय अवज्ञा का एक ऐसा अहिंसक रास्ता खोज निकाला कि गुलामी

की बंदीरें भी टूट नहीं । अत्याग्रह के सिद्धान्त का आविष्कार तो एशिया के अहिंसावादी एत्यों के लिए परंपरा ही बन गया ।

एक दूसरा अहिंसा का अनुकूलक इतिहास हमारे सामने है । अयोध के बन्धु की परंपरा में मुकली और कबीर की कविता में भी एक ही धार की शक्ति ने कदवा की अमल साधन बढ़ाई है । अहिंसावादी विरोधियों और अहिंसावादी पर किया गया हम प्रयोग मानव में स्थित अज्ञान के अस्तित्व का ज्ञान करता है, परन्तु कहा तो यह आविष्कार-एक नव मानव की अहिंसा के आवर्धन का ज्ञान तक नहीं था और कहा जाय कि अत्याग्रह-एक नव मानव साधन-एक ही अहिंसा-मुक्त होकर अतृप्त विश्व की एकता का अर्थ है । इसलिए निश्चय ही अहिंसावादी एत्यों का अविष्कार बहुत उन्नत है ।

सम्प्रदायों की ओर से हिंसा को प्रोत्साहन



जैसे सम्प्रदायों की स्थापना जीवन के उन ऊँचे आदर्शों के लिए की गई जिनके प्रचार से सम्पूर्ण मानव-जाति का विकास हो सकता था । परन्तु आज की जर्म-सम्प्रदायें इन ऊँचे आदर्शों को नष्ट नहीं हैं और अपने-अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए नृषि-से नृषि काम करने में भी हिंसाप्रिया नहीं हैं ।

आज के नृषि और विपाक साधन-एक ही जर्म-विरोधी मानव-साधन पर ही है । जिस ऊँचे और पवित्र जर्म ने अज्ञान-सिद्धान्त के रूप में अहिंसा एकता और प्रेम का अविष्कार किया उसी जर्म की अस्तेनाश करने के लिए आज की नव-परंपरा अहिंसा-ही चीज पाती है ।

मुस्लिम संप्रदाय



यह स्पष्ट ममझ लेना चाहिए कि हिंसा का अर्थ केवल जीव-हत्या या प्राण-व्यपरोपण ही नहीं है। समाज में कलह, द्वेष, ईर्ष्या, फूट, वर्मनस्य और मनमुटावों को पंदा करने वाली प्रवृत्तियाँ भी पूर्णतः हिंसा हैं और भयंकर हिंसा हैं। इस तरह की भावात्मक हिंसा को प्रोत्साहन देने में पथवाद और सम्प्रदायवाद ने बहुत काम किया है। इतिहास साक्षी है कि हिन्दू धर्म और मुस्लिम धर्म के भेद ने समाज का कितना बड़ा अहित किया है। ये दोनों धर्मावलम्बी आज दुर्भाग्य से एक-दूसरे के जानी दुश्मन बन गये हैं और हर सम्भव तरीके। एक-दूसरे के धर्म को अवयवा धर्मजन्य जाति को नीचा दिखाने के प्रयत्न में रहते हैं। हम ज्यादा विस्तार में न जाकर केवल औरंगजेब का उदाहरण ही देख लें। औरंगजेब एक पक्का मुसलमान था और उसने अपने धर्म के प्रचार के लिए हिन्दुओं, जैनो और बौद्धों पर समान अत्याचार किया। उसने हजारों, लाखों पुस्तकें जला डाली। अनगिनत मंदिर और मूर्तियाँ तुड़वा डाली। सैकड़ों वेवस बहू-वेदियों की इज्जत के साथ खिलवाड़ हुआ। उसका कहना यही था कि मैं धर्म के प्रचार का महत्त्वपूर्ण काम कर रहा हूँ और मेरा धर्म तलवार के बल पर ही फैल सकता है। पर सच्चाई क्या है? क्या कहीं सच्चे इस्लाम धर्म में इस तरह के अत्याचार के लिए तनिक भी गुजाइश है? क्या कुरान में इस तरह के पाप के लिए तिलमात्र को भी स्थान है? नहीं। परन्तु मजहब के नशे ने धर्म की सच्चाई को ढक लिया।

दूसरा सब से ताजा उदाहरण पाकिस्तान का है। क्या हिन्दुस्तान के दो टुकड़े होने से इस्लाम धर्म बच गया? “इस्लाम सतरे में” का नारा देने वाले बतायें कि क्या अब इस्लाम सुरक्षित है? पाकिस्तान

उम इमारतें मानव बच्चों और स्त्रियोंकी बहनों के बल पर बड़ी हैं। जिनको बल करके बहकवात किया गया और ठंडपा-ठंडपा कर मार डाला गया। धरी-धी धरी पादियों काट डाली गयी। कुएं बरतों से भर गये और बाबूतों मालम बेचरबार तथा बहकवात हो गये। परन्तु इस्लाम की रक्षा का हम करने वाले बल बल होते रहे और वह कहते रहे कि हम पाकिस्तान केकर ही नार्बने। पाकिस्तान की प्रतिष्ठा के इतर माय में भी हिंसा की कहुर सीरी और मालम मानव न रहकर मानव बन गया।

और सप्रदाय



ये दोनो प्रदाहरण नजहरी कटुता और पंचवारी हिंसा के बेबोड़ उदाहरण हैं। परन्तु इस पाप के माली केबल हिन्दू-मुसलमान ही नहीं हैं। मान्य और धर्म के अनुयायियों में भी समरान के नाम पर कितना वीरवत्प बल रहा है वह प्रतिदिन का बाबूतों केबा दुस्म है, बम्बेद सिहार पर स्वेतादरों का बभिकार हो या विरुधों का ? इस प्रस्न को केकर बाबूतों समये बर्ब किये गये। परम्पर के न्याय की बीरक सीरी बनी और बर्ब का विवाद बहाकर बल ईतराई का कारणमाय रचा गया। मूर्तियों के नाम पर तथा बभिर के नाम पर एक नहीं बलिक माने दिन बनेक बपडे होते रहते हैं और मानवी वीरवत्प के बीर बोए जाते हैं। ठेरापनी कहते हैं कि विवाय हमारे बाबूतों के मान्य सब दुपाय हैं मल किनी भी मल बहकवाय के पाप का नुहस को मान्य देना पाप है। वह भी क्या विविध उपायमायय बभकवाय है ? स्नानकवायियों की रक्षा की कुछ कम विविध नहीं है। कुछ बाबू तथा मानक मालम हीन माना के बभकवाय और हिंसक उपायों के

एक-दूसरे के प्रति आक्षेप, निन्दा एवं छोटाकशी करते रहते हैं। किसी भी साधु के पास जाइए, वह प्रायः अपनी तारीफ करेगा और दूसरो की निन्दा करेगा। मूर्ति-पूजक परम्परा में तो सहसा यह पता ही नहीं चलता कि कितने भेद-प्रभेद हैं। सड़तरगच्छ, तपागच्छ, तीन-धुई, चार-धुई और न जाने किस किस नाम से झगड़े खड़े किये गये हैं। हमारे यहां कभी लाउडस्पीकर के नाम से, कभी सवत्सरी की तिथि के नाम से, कभी छोटी बड़ी मुखपत्ती के नाम से, और कभी किसी दूसरे ही अजीबोगरीब नाम से रोज झगड़े होते रहते हैं।

आर्य-समाजी और ईसाई मानो एक-दूसरे के विरोध के लिए ही पैदा हुए हैं। जब देखो, एक-दूसरे के खिलाफ जहर उगलते रहते हैं। हिन्दू धर्म के अनेक फिरके हैं। ये सब आपस में एक-दूसरे के विरोधी हैं और दूसरो के विरुद्ध समाज को भड़काते रहना ही अपना सबसे बड़ा धर्म समझते हैं। इसी तरह ईसाई धर्म में कैथालिक और प्रोटेस्टेंट हैं। योरोप में इन दोनों पथों ने इतना वैमनस्य और द्वेष खड़ा कर रखा है कि जिसे देखकर दातो तले उगली दबानी पड़ती है और यह कहने को मन नहीं मानता कि उनमें कुछ भी धर्म के गुण शेष रह गये हैं। जिस प्रेम का पैगाम ईसामसीह ने दिया उसे भूलकर आज उसी धर्म के अनुयायी सत्तार में हिंसा और अशांति को प्रोत्साहित कर रहे हैं।

यही हालत बौद्धों में हीनयान तथा महायान की है। एशिया के जिन देशों में बौद्ध धर्म अधिक प्रचलित है, वहां के लोग अक्सर यह कहते हैं कि भगवान् बुद्ध ने करुणा और सौहार्द का जो रास्ता दिखाया उसकी जगह हम सांप्रदायिक अभिनिवेश में फसकर क्रूर मानसिक हिंसा के शिकार होते जा रहे हैं।

कहा तक इन संप्रदायों के वैमनस्य की कहानी बताई जाय। यदि कोई ध्यान से अध्ययन करेगा तो उसे यही दिखाई देगा कि इन

पंथों के आचार्यों एवं संस्थाओं के शास्त्रों के अन्तर्गत ही हो गया है और अपने पक्ष के अस्तित्व की रक्षा का प्रयत्न ही मुख्य है। इसीलिए आज धर्म पर से युवकों की आस्था हिल रही है। और बहिवादियों का एक बहुत बड़ा ठक्का धर्म का विरोधी बनना था रहा है। ऐसी स्थिति में हम बात की परम आवश्यकता है कि सभी धर्मों के बीच आपस में मिलें। भाईचारा बढ़ाएँ। विभिन्न सम्प्रदायों पर विचार विनिमय करें और आपस में एकठा जेब एवं कोट्टई बाँट लें। वही सच्ची सांस्कृतिक और मानवीय प्रेरणा है और वही धर्म मानवताक बहिष्ता का मार्ग है। सम्प्रदायों पर बहिष्ता के प्रचार के लिए कायम हुए, वे हिंसा एवं क्रूर के प्रचारक बन जायेंगे।

अहिंसकों की गतिविधियाँ



जान दुनिया ने हिंसा और बहिष्ता का मुकाबला है, पर हिंसक-धर्मियों की बहिष्ता का प्रभाव बहुत कर ताकते वाली है। वे चुनकर प्रयत्न होने से डरती हैं। वह इस बात का प्रभाव है कि जब दुनिया भर के लोगों की अज्ञा हिंसा पर से हिल गई है और आज का जन-मानस बहिष्ता पर दुः आस्था के साथ जीना चाहता है। वह धर्म प्रभाव है।

अमेरिका के राष्ट्रपति जी कैनेडी ने "ह्याउस हाउस" के सत्रों के दिनों कहा कि "अमेरिका का के साथ मैत्री चाहता है और वह प्रियता का वातावरण तैयार कर रहा है। इस कथन के दूसरे ही दिन अक्षरार्थों के यह समाचार प्रकाश हुआ कि कैनेडी अफ़्रीका के पिल रहे हैं और अफ़्रीका ने कहा कि जब यदि हम हिंसा का रास्ता

छोड़ने के लिए तैयार नहीं होंगे तो दुनिया की समृद्धि तथा तरक्की खतरे में पड़ जायेगी। आखिर विश्व-राजनीति को हिलाने वाले खिलाड़ी-द्वय आपस में मिले और इसी निष्कर्ष पर पहुँचे कि हिंसा का खोफनाक माँ न अपनाया जाय तथा दोनों देश मिलकर सम्पूर्ण विश्व में शांति की स्थापना के लिए सम्मिलित प्रयत्न करें।

हालांकि आज भी हवा में अहिंसा की खुशबू विद्यमान है, पर धरती का कण-कण हिंसा के घमाकों से कपित भी है।

पिछले दिनों अहिंसावादियों के लिए मक्-से-बडे सिर दर्द दो देश थे। कांगो तथा जंगोला। कांगो में जिस तरह निर्दयतापूर्वक महान लुमुबा की हत्या की गई, वह इतिहास में घृणा, मूर्खता और ईर्ष्या का कलकित पृष्ठ बना कर रह जायेगी। साम्राज्यवादी लोभियों ने सत्ता और धन के लोभ में जिस हँवानियत का परिचय दिया, उससे न केवल अहिंसावादी बल्कि स्वयं साम्राज्यवादी भी चकित रह गए और संयुक्त राष्ट्र-संघ में सभी ने एक स्वर से इस दुर्घटना की निंदा की।

जंगोला में जिस प्रकार साम्राज्यवादी मशीनगनों ने बेपनाह तथा निःशस्त्र हजारों अफ्रीकियों की भून डालने की गुस्ताखी की थी वह निःसंदेह अहिंसावादियों के लिए चिंता की बात थी और इससे अहिंसा का जो विचार काफी दूर तक आगे बढ़ा था, वह वापिस पीछे की ओर धकेल दिया गया। लंदन के वामपंथी साप्ताहिक “न्यू स्टेट्समैन” ने घोषणा की है कि करीब ३५ हजार निरुद्ध अफ्रीकी मौत के घाट उतार दिये गये। दक्षिण पंथी साप्ताहिक “स्वेक्टेटर” और स्वतंत्र साप्ताहिक “इकोनोमिस्ट” का भी यही कहना है कि अफ्रीकी लोग बिना भेद-भाव के कुचल दिये गये और यह कहा गया है कि “घायल मत करो। अस्पतालों में जगह नहीं है। सीधे मारो। खरस करो। ताकि दुवारा वे सिर न उठा सकें। आजादी की मांग का सबक

बिना शान । इस तरह की घटनाओं ने जहाँ हम चौंका दिया है, वहाँ बर्लिन अखबारों में जोरा और धमकी के जगमगाते हुए प्रसंगों ने भी प्राप्ति पाइने वाले विश्व-नेताओं को परेशान कर रखा है।

सदस्य श्री नि



विद्वान् के प्रतिपाद्य नैतानों न भर्त्सक साधिर और न भद्रक का नाम भी वीरव के नाम इन दिनों किया जाने लगा है और किसी भी अठरुण्डनीय हिता के ध्यान का अभाव इन दोनों नैतानों के मार्ग धर्मन पर अवलम्बित होना या रहना है । इसमें एक कारण यह भी है कि आज अहित अनुकूलन तत्त्व वेष्टों का हाथ न है और तत्त्व वेष्ट विचार काइ विद्वान्-राजनीति को मोड़ सकती है । सीमाध्य के करीब करीब सभी तत्त्व स्पष्ट बहुविधावादी हैं ।

विद्यार्थी विद्यालय में शिक्षण कार्य आत्मसाधन किया कर परिचय दिया है और विद्यार्थी के लक्ष्यों पर ध्यान देकर पढ़ाने के उद्देश्य द्वारा शिक्षण पर उन्होंने जो शिक्षण-तकनीकें प्रयोग की हैं, उनके अनुसार है कि सभी जो शिक्षण-तकनीकों को ध्यान में रखकर पढ़ाई होना । यद्यपि विद्यार्थी विद्युत्-शक्ति के प्रयोग द्वारा शिक्षण कार्य को ध्यान में रखकर पढ़ाई होना । यद्यपि विद्यार्थी विद्युत्-शक्ति के प्रयोग द्वारा शिक्षण कार्य को ध्यान में रखकर पढ़ाई होना । यद्यपि विद्यार्थी विद्युत्-शक्ति के प्रयोग द्वारा शिक्षण कार्य को ध्यान में रखकर पढ़ाई होना ।

जी जी हो हम बोध किने हैं ? क्या हम अन्तराष्ट्रीय परिस्थि-
 तियों की वहाँ बहिष्ता का विचार अभी अन्तर में ही पुनः रहा है ?
 या हम राष्ट्रीय परिस्थितियों की वहाँ अन्तर है कि बहिष्ता का विचार

बूढ़ा हो कर मरने की तैयारी कर रहा है । हम एक है । सब आपस में भाई-भाई हैं । महावीर, बुद्ध और गाँधी ने हमें प्रेम और अहिंसा का पथ बताया है । तब भी हम भापा प्रान्त के वेवुनियाद झगड़े को लेकर उलझ पड़ते हैं । दगा कर बैठते हैं । गोलियाँ चला बैठते हैं । जरा से विरोध पर हर किसी महान से महान व्यक्ति पर छुरा चलाने की हरकतें कर बैठते हैं । यह सब क्या है ? क्या हमारी नादानी नहीं है ? न जाने कितने नये पुराने मसले हैं जो हमारी निहायत बेसमझी का प्रदर्शन कर रहे हैं और हमारी गहरी अहिंसक परम्पराओं का उपहास कर रहे हैं ।

